

अष्टमोऽध्यायः

ऋषिः—आङ्गिरसः। देवता—बृहस्पतिस्सोमः। छन्दः—आर्चीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥
आदर्श पति

उपयामगृहीतो ऽ स्यादित्येभ्यस्त्वा।

विष्णोऽउरुगायैष ते सोमस्तरक्षस्व मा त्वा दभन्॥१॥

१. इस अध्याय का प्रारम्भ 'आङ्गिरस' ऋषि के मन्त्रों से होता है। यह आङ्गिरस ऋषि ही सप्तमाध्याय की समाप्ति के मन्त्रों का भी ऋषि था। सप्तमाध्याय की समाप्ति के मन्त्र 'दान' का प्रतिपादन कर रहे थे। अब दान देनेवाले गृहस्थों का प्रकरण प्रारम्भ होता है। इस प्रथम मन्त्र में वधू वर से कहती है—(क) **उपयामगृहीतः** असि=तेरा जीवन प्रभु की उपासना द्वारा यम-नियमों से स्वीकृत हुआ है। तूने उपासना द्वारा अपने जीवन को व्रती बनाया है। मैं **आदित्येभ्यः त्वा**=(आदित्यः वै प्रजाः—तै० १।८।८।१) सूर्य के समान दीप्त प्रजाओं के लिए आपको वरती हूँ। मैं चाहती हूँ कि आप मेरे हाथ को ग्रहण करें, जिससे हम सूर्य के समान वर्चस्वी सन्तानों को प्राप्त करें। (ख) **विष्णो**=आप विष्णु हैं (विष्णु व्याप्तौ) व्यापक हृदयवाले हैं। आपका मन विशाल है, वहाँ कृपणता का निवास नहीं। (ग) **उरुगाय**=आप प्रभु का खूब ही गायन करनेवाले हैं। प्रभु-प्रवण मनुष्य विलासमय जीवनवाला नहीं होता, अतः यह प्रभु-प्रवणता गृहस्थ की पवित्रता के लिए अत्यन्त आवश्यक है। (घ) **एषः ते सोमः**=यह आपका सोम है, यह आपकी वीर्यशक्ति है। **तं रक्षस्व**=उसकी आपने रक्षा करनी है। **मा**=मत **त्वा**=तुझे **दभन्**=रोगादि हिंसित करनेवाले हों। सोम का अपव्यय होते ही शरीर में रोग-प्रतिरोधक शक्ति नहीं रहती और मनुष्य को नाना प्रकार के रोग आ घेरते हैं। वस्तुतः इस सोम की रक्षा से सब अङ्ग रसमय बने रहते हैं। वे सूखे काठ के समान मृत नहीं हो जाते। उनमें लोच-लचक बनी रहती है और इसका 'आङ्गिरस' नाम सार्थक होता है।

भावार्थ—आदर्श पति वही है जो १. यम-नियमों से संयत जीवनवाला है २. उदार हृदय है। ३. प्रभु का सतत स्मरण व कीर्तन करनेवाला है। ४. सोम के महत्त्व को समझकर उसकी रक्षा करता है। यही व्यक्ति उत्तम सन्तान को जन्म देता है। एक आदर्श वधू वर का वरण इसीलिए करती है कि वह आदित्यसम देदीप्यमान सन्तानों को जन्म दे सके।

ऋषिः—आङ्गिरसः। देवता—गृहपतिर्मघवा। छन्दः—भुरिगार्शीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥
परस्पर अर्पण

कदा च न स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे।

उपोपेन्नु मघवन्भूयऽइन्नु ते दानं देवस्य पृच्यतऽआदित्येभ्यस्त्वा॥२॥

गत मन्त्र के विषय को आगे बढ़ाती हुई पत्नी कहती है कि आप १. **कदाचन**=कभी भी **स्तरीः**=(स्वभावाच्छादकः—द०, स्तृञ् आच्छादने) अपने स्वभाव को छिपानेवाले **न असि**=नहीं हैं। पति-पत्नी में ऐसा सामञ्जस्य होना चाहिए कि उन्हें एक-दूसरे से कुछ छिपाने का

विचार ही उत्पन्न न हो। उनमें किसी प्रकार का भेदभाव न हो। २. हे इन्द्र=इन्द्रियों के अधिष्ठाता शक्तिशाली पते! आप दाशुषे=दाश्वान् के लिए, आपके प्रति अपना समर्पण करनेवाले के लिए सश्चसि=प्राप्त होते हो (सस्ज गतौ)। कन्या पितृगृह को छोड़कर पति के घर को अपना घर बनाती है। वह पति के प्रति अपना अर्पण कर डालती है, अतः पति को भी उसे प्राप्त होना ही चाहिए, उसे कभी धोखा नहीं देना चाहिए। ३. हे मघवन्=ऐश्वर्यशालिन्! अथवा यज्ञशील! उप उप इत् नु=आप निश्चय से प्रभु के अधिकाधिक निकट हो, उसके उपासक बनो। प्रभु-प्रवणता भोग-प्रवणता को रोकती है। ४. देवस्य=(देवो दानात्) देनेवाले आपको भूयः इत्=अधिक ही दानम्=दान पृच्यते=प्राप्त होता है। ५. आदित्येभ्यः त्वा=मैं आदित्य-तुल्य दीप्तिवाली सन्तानों के लिए आपको प्राप्त होती हूँ।

भावार्थ—१. पति पत्नी से किसी प्रकार का छिपाव न रखे। यह छिपाव ही एक-दूसरे में शक पैदा करता है। २. पति पत्नी को पूर्णतया प्राप्त हो, क्योंकि पत्नी ने पति के प्रति अपना अर्पण किया है। ३. उसमें प्रभु-प्रवणता हो। ४. वह दानशील हो।

ऋषिः—आङ्गिरसः। देवता—आदित्यो गृहपतिः। छन्दः—निचृदार्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

इहलोक व परलोक

कदा च न प्रयुच्छस्युभे निपासि जन्मनी।

तुरीयादित्यु सर्वनं तऽइन्द्रियमातस्थावमृतं दिव्यादित्येभ्यस्त्वा॥३॥

पति के ही विषय में कहते हैं कि आप १. कदा च=कभी भी न प्रयुच्छसि=प्रमाद नहीं करते हो। 'न प्रमदितव्यम्' आचार्य के इस उपदेश को आप भूलते नहीं। २. सदा सतर्क और अप्रमत्त रहते हुए आप उभे =दोनों जन्मनी=जन्मों को निपासि=निश्चय से रक्षित करते हो। इहलोक व परलोक दोनों को सुधारने का प्रयत्न करते हो। आप अभ्युदय के साथ निःश्रेयस को जोड़कर चलते हो, यही तो धर्म है। ३. तुरीय=आप तुरीय हो। तुरीय का अर्थ निम्न मन्त्र से स्पष्ट हो जाता है—'सोमस्य जाया प्रथमं गन्धर्वस्तेऽपरः पतिः। तृतीयोऽग्निष्टे पतिः तुरीयस्ते मनुष्यजाः' (अथर्व १४।२।३) प्रथम तू सोम की पत्नी है, तेरा दूसरा पति गन्धर्व है, अग्नि तेरा तीसरा पति है और चौथा मनुष्य से होनेवाला, अर्थात् माता-पिता कन्या के लिए वर खोजते समय पहला ध्यान तो यह करें कि वह 'सोम' हो, शक्ति का पुञ्ज हो। उसमें वीर्यशक्ति हो, वह नामर्द न हो, सन्तानोत्पत्ति के अयोग्य न हो। दूसरी बात यह कि वह ज्ञान की वाणी का पति हो (गां धरति) कुछ पढ़ा-लिखा हो, अनपढ़, गँवार न हो। तीसरा यह कि वह अग्नि हो—उन्नतिशील (progressive) हो और चौथे यह कि वह मनुष्यता-दयालुता को लिये हुए हो, क्रूर न हो, Humane हो। एवं, तुरीय का अर्थ है, आप दयालु हों, आपमें मानवता हो। ४. आदित्य=गुणों के आप आदान करनेवाले हों, अच्छाई की आप कदर करते हों। ५. ते इन्द्रियम्=आपका वीर्य सवनम्=उत्पादक है, सुन्दर सन्तान को जन्म देनेवाला है। ६. आतस्थौ=आपका यह वीर्य शरीर में ही स्थित होता है, यह व्यर्थ में नष्ट नहीं किया जाता। ७. अमृतम्=यह आपको अमृत-नीरोग बनानेवाला है। ८. दिवि=यह ज्ञान के निमित्त है। अथवा मस्तिष्करूप द्युलोक में स्थित होता है। ९. ऐसे त्वा=आपको मैं आदित्येभ्यः=उत्तम प्रजाओं के लिए वरती हूँ।

भावार्थ—१. आप प्रमादशून्य हो। २. इहलोक व परलोक दोनों का ध्यान करते हो। ३. आप मानवता को लिये हुए हो। ४. गुणों का आह्वान करनेवाले हो। ५. उत्पादक शक्ति

से युक्त हो। ६. शक्ति को नष्ट नहीं होने देते हो। ७. नीरोग हो। ८. शक्ति को ज्ञानाग्नि का ईंधन बनाते हो।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—आदित्यो गृहपतिः। छन्दः—निचृज्जगती। स्वरः—निषादः॥

दैनिक अग्निहोत्र

यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृडयन्तः।

आ वोऽर्वाचीं सुमतिर्वृत्याद्ःहोश्चिद्या वरिवोवित्तरासंदादित्येभ्यस्त्वा॥४॥

गत मन्त्र का आङ्गिरस अप्रमाद से धर्म का पालन करता हुआ सब बुराइयों का संहार करने से 'कुत्स' हो जाता है। इस कुत्स के घर में १. देवानां यज्ञः=देवयज्ञ अर्थात् अग्निहोत्र प्रतिएति=प्रतिदिन आता है, अर्थात् इसके घर में अग्निहोत्र एक जरामर्य सत्र बना रहता है। मृत्यु तक इसमें विच्छेद नहीं आता। २. इसी का परिणाम है कि घर में सुम्नम्=सुख-ही-सुख रहता है। ३. आदित्यासः=हे सूर्यसम सन्तानो ! तुम मृडयन्तः=सुखी करनेवाले भवत=होवो। घर में यज्ञों के चलने पर सन्तानों के जीवन उत्तम होते हैं और उनकी वृत्ति क्लब्स (Clubs) आदि की ओर नहीं होती। ४. 'आदित्यास' का अर्थ आदित्य ब्रह्मचारियों से भी है। ये अतिथिरूपेण हमारे घरों में आते रहें, हमपर इनकी कृपा बनी रहे। ५. हे आदित्यो! वः=तुम्हारी सुमतिः=कल्याणी मति अर्वाची='अर्वाङ् अञ्चति' हृदय को प्राप्त होनेवाली, हृदयङ्गम होनेवाली, आववृत्यात्=सर्वथा हो। या=जो अंहोः चित्=ज्ञानी को भी वरिवोवित्तरा=उत्कृष्ट ज्ञानधन को प्राप्त करानेवाली असत्=हो। इस मन्त्रभाग का यह भी अर्थ हो सकता है कि अंहो चित्=पापवृत्तिवाले को भी यह आदित्यों से दी गई सुमति उत्तम सेवनीय धन या पूजा की वृत्ति को प्राप्त करानेवाली होती है। विद्वान् अतिथियों के सम्पर्क में इन गृहस्थों को सदा सुमति प्राप्त होती रहे और ये अपने ज्ञान को अधिकाधिक बढ़ानेवाले हों। ६. आदित्येभ्यः त्वा=मैं तुझे उत्तम सन्तानों के लिए प्राप्त होती हूँ।

भावार्थ—१. घरों में अग्निहोत्र नियम से हो, जिससे वहाँ सुख का राज्य हो। २. विद्वान् अतिथियों का आना-जाना बना रहे, जिससे उनकी सुमति इन्हें सदा प्राप्त रहे। घरों में उत्तम सन्तान का निर्माण हो।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—गृहपतयः। छन्दः—प्राजापत्यानुष्टुप्*, निचृदार्षीजगती^१। स्वरः—गान्धारः*, निषादः^२॥

ज्ञानी, गुणी, संयमी, दानी

*विवस्वन्नादित्यैष ते सोमपीथस्तस्मिन् मत्स्व।

^१श्रदस्मै नरो वचसे दधातन् यदाशीर्दा दम्पती वाममश्नुतः।

पुमान् पुत्रो जायते विन्दते वस्वधा विश्वाहारपऽएधते गृहे॥५॥

१. पिछले मन्त्र में उत्तम सन्तान निर्माण का संकेत था। उसी का उपाय प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं—१. हे विवस्वन्=ज्ञान की किरणोंवाले! आदित्य=सूर्य के समान उत्तम गुणों का ग्रहण करनेवाले पतिदेव ! एषः ते सोमपीथः=यह तेरा सोम का पान है। तस्मिन् मत्स्व=उसमें तू आनन्द का अनुभव कर, अर्थात् पति ज्ञानी, गुणग्राही व संयमी हो। २. प्रभु इन प्रगतिशील व्यक्तियों से कहते हैं कि नरः=हे उन्नतिशील पुरुषो! अस्मै वचसे=इस वचन के लिए श्रत् दधातन=श्रद्धा करो। यत्=कि आशीर्दा=इच्छापूर्वक दान देनेवाले दम्पती=पति-

पत्नी वामम्=सुन्दर सन्तानों को ही अश्नुतः=प्राप्त करते हैं। दान देने से मनोवृत्ति सुन्दर बनती है, मनुष्य विलास से ऊपर उठता है, परिणामतः सन्तानों में भी वही सौन्दर्य अवतीर्ण होता है। ३. पुमान् पुत्रः जायते=इनका सन्तान (पू=पवित्र करना) पवित्र हृदय व पौरुषवाला होता है। विन्दते वसु=वह सन्तान निवास के लिए आवश्यक उत्तम धनों को प्राप्त करनेवाला होता है। अध=और विश्वाहा=सदा अरपः=पापशून्य होता हुआ (अ-रपस्) गृहे=अपने घर में एधते=सब दृष्टिकोणों से उन्नति करता है। ४. यह सन्तान पुमान्=अपने जीवन को पवित्र बनाता है। अरपः=पापशून्य होता है। अतएव इसका नाम 'कुत्स' (सब बुराइयों की हिंसा करनेवाला) हो जाता है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—पति 'ज्ञानी, गुणग्राही व संयमी' हो। पति-पत्नी दिल खोलकर उदारता से दान देनेवाले हों तो उनके घरों में 'उत्तम, वीर, पवित्र व पापशून्य' सन्तान होते हैं।

ऋषिः—भरद्वाजः। देवता—गृहपतयः। छन्दः—निचृदाषीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

वामभाक्

वाममद्य सवितर्वाममु श्वो दिवेदिवे वाममस्मभ्यःसावीः।

वामस्य हि क्षयस्य देव भूरैर्या धिया वामभाजः स्याम॥६॥

१. गत मन्त्र के पति-पत्नी शक्ति प्राप्त करके 'भरद्वाज' बनते हैं और प्रार्थना करते हैं—हे सवितः=सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करनेवाले प्रभो! अद्य=आज अस्मभ्यम्=हमारे लिए वामम्=सौन्दर्य सावीः=उत्पन्न कीजिए, अर्थात् हमारे घर में प्रत्येक वस्तु सुन्दर व श्रीसम्पन्न हो। क्या सन्तान, क्या सम्पत्ति, क्या यश—सभी सौन्दर्य को लिये हुए हों। उ=और श्वः=कल भी वामम्=सौन्दर्य को, और दिवेदिवे=प्रतिदिन सौन्दर्य को ही उत्पन्न कीजिए। २. हे देव=सब उत्तम वस्तुओं के देनेवाले प्रभो! हम हि=निश्चय से वामस्य क्षयस्य=सुन्दर घर के (क्षि निवासगत्योः) भूरेः=धन-धान्य के बाहुल्यवाले घर के अथवा (भृ=पालनपोषणयोः) जिस घर में पालन व पोषण सुन्दरता से चलता है, उस घर को प्राप्त करनेवाले हों, अर्थात् हमारे घर में सब वस्तुएँ सौन्दर्य को लिये हुए हों और हमारा घर पालन व पोषण की सामग्री से युक्त हो। ३. अया धिया=इस (अनया) आपकी दी हुई बुद्धि से हम वामभाजः=सुन्दर वस्तुओं व बातों का सेवन करनेवाले हों, अर्थात् हमारी बुद्धि हमें कभी गलत मार्ग पर न ले-जाए। हम उन्हीं कार्यों को करें जिनसे हम सदा यशोन्वित हों।

भावार्थ—हम शक्तिशाली बनकर अपने कर्मों से घरों को सौन्दर्य से अलंकृत करनेवाले हों।

ऋषिः—भरद्वाजः। देवता—सविता गृहपतिः। छन्दः—विराड्ब्राह्म्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

भग-देव-सविता

उपयामगृहीतोऽसि सावित्रोऽसि चनोधाश्चनोधाऽसि चनो मयि धेहि।

जिन्व यज्ञं जिन्व यज्ञपतिं भगाय देवाय त्वा सवित्रे॥७॥

१. पत्नी पति से कहती है कि—आप उपयामगृहीतः असि=उपासना के द्वारा यम-नियमों के धारण करनेवाले हैं। २. आप सावित्रः असि=सविता देव के उपासक हैं, अर्थात् आपका जीवन सूर्य की भाँति नियमित है और परिणामतः आप सूर्य की भाँति ही चमकनेवाले हैं। अथवा आप (सू-प्रसव) उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाले हैं। ३. चनोधाः=उत्तम अन्न को धारण करनेवाले और चनोधाः=निश्चय से उत्तम अन्न को धारण करनेवाले असि=हैं

(अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते-नि० १०।४२)। चनो मयि धेहि=मुझमें अन्न धारण कीजिए। 'अन्न प्राप्त कराना घर में सबके पालन-पोषण के लिए आवश्यक सामग्री जुटाना' यह पाणिग्रहण के मन्त्रों में 'ममेयमस्तु पोष्या' इन शब्दों में तीसरा व्रत लिया जाता है। पति अन्न-प्रापण के द्वारा ही रक्षा करता है। ४. यज्ञं जिन्व=आप यज्ञ को भी प्राप्त हों। केवल खाने-पीने के लिए थोड़े ही कमाना है, यज्ञों के लिए भी तो कमाना है। यज्ञपतिं जिन्व=इन यज्ञों के द्वारा यज्ञों के पति प्रभु को आप प्रीणित करनेवाले बनें। वस्तुतः 'यज्ञो वै विष्णुः' वे प्रभु यज्ञरूप हैं। हम उस यज्ञरूप प्रभु की यज्ञों के द्वारा ही उपासना कर पाते हैं। ५. मैं त्वा=आपको भगाय=ऐश्वर्य के लिए प्राप्त होती हूँ। आप घर के ऐश्वर्य को बढ़ानेवाले होओ। देवाय त्वा=मैं आपको दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए स्वीकार करती हूँ। आपके कारण घर में देवत्व की वृद्धि होगी। मैं सवित्रे=उत्तम सन्तानों को जन्म देने के लिए आपका स्वीकार करती हूँ (षू प्रसव)। आपके द्वारा मैं उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाली बन सकूँगी।

भावार्थ—पति इतना कमाये कि घर का व्यय भी चले और यज्ञ-यागादि के लिए भी खर्च निकलता रहे। घर में ऐश्वर्य की वृद्धि हो, देवत्व का विकास हो और उत्तम सन्तानें हों।

ऋषिः—भरद्वाजः। देवता—विश्वेदेवा गृहपतयः। छन्दः—प्राजापत्यागायत्री^१, निचृदार्षीबृहती^२।

स्वरः—षड्जः^३, मध्यमः^४।

सुशर्मा-सुप्रतिष्ठान

^१उपयामगृहीतो ऽसि^२ सुशर्मासि सुप्रतिष्ठानो बृहदुक्षाय नमः।

विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यऽएष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः॥८॥

१. पत्नी कह रही है कि—उपयामगृहीतः असि=आप प्रभु-उपासना के द्वारा स्वीकार किये हुए यम-नियमोंवाले हैं। २. सुशर्मा असि=उत्तम गृहवाले हैं (शर्म गृह-नि० ३।४)। ३. सुप्रतिष्ठानः=(सुष्ठु प्रतिष्ठानं प्रतिष्ठा यस्य-द०) आप उत्तम प्रतिष्ठावाले हैं। ४. बृहद् उक्षाय=उत्कृष्ट वीर्यवान् आपका नमः=मैं उचित आदर करती हूँ या उचित अन्नादि की व्यवस्था (नमः=अन्न-नि० २।७) करती हूँ। ५. विश्वेभ्यः त्वा देवेभ्यः=सब दिव्य गुणों के लिए मैं आपको स्वीकार करती हूँ। एषः ते योनिः=यही आपका घर है। विश्वेभ्यः त्वा देवेभ्यः=सब दिव्य गुणों के लिए मैं आपको स्वीकार करती हूँ।

भावार्थ—पति यम-नियम का पालन करे। वह अपने घर को उत्तम बनाए। उसके कार्य उसे यशस्वी बनानेवाले हों। उसके कारण घर में दिव्य गुणों की वृद्धि हो।

सूचना—'शर्म' शब्द सुखवाची भी है। तब 'सुशर्मा' का अर्थ यह होगा कि जिसके कारण घर में सुख-ही-सुख है, जो घर में क्लेश बढ़ाने का कारण नहीं बनता।

ऋषिः—भरद्वाजः। देवता—गृहपतयो विश्वेदेवाः। छन्दः—प्राजापत्यागायत्री^३, आर्ष्युष्णिक्^४,

स्वराडार्षीपङ्क्तिः^१। स्वरः—षड्जः^२, ऋषभः^३, पञ्चमः^४।

सूर्य का उभयतो दर्शन

^१उपयामगृहीतो ऽसि^२ बृहस्पतिसुतस्य देव सोम त्वा इन्द्रोरिन्द्रियावतः पत्नीवतो ग्रहौ२॥९॥ ऋध्यासम्।^३ अहं परस्ताद्दहमवस्ताद्यदन्तरिक्षं तदु मे पिताभूत्। अहंसूर्यमुभयतो ददर्शाहं देवानां परमं गुहा यत्॥९॥

१. पिछले मन्त्र की भाँति प्रस्तुत मन्त्र में भी पत्नी कथन करती है कि—आप **उपयामगृहीतः** असि=सुनियमों से स्वीकृत हैं। आपका जीवन यम-नियमवाला है। २. **बृहस्पतिसुतस्य**=सब ज्ञानों के पति, अथवा सर्वोच्च दिशा के पति के पुत्र, अर्थात् जिन्हें ज्ञानी, गुणोन्नत आचार्यों ने दूसरा जन्म देकर द्विज बनाया है, उस आपके, हे **देव सोम**=दिव्य गुणोंवाले तथा उत्पादक शक्ति से युक्त पते! **इन्दोः**=सोम की रक्षा के कारण शक्तिशाली **इन्द्रियावतः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले तथा **पत्नीवतः**=उत्तम पत्नीवाले **ते**=आपके **ग्रहान्**=(गृह्यन्ते विवाहकाले-६०) विवाह के अवसर पर लिये गये व्रतों की **ऋध्यासम्**=मैं समृद्ध करनेवाली बनूँ। पति के व्रतों के पालन में पत्नी ने सहायक होना है। पत्नी की सहायता के बिना उन व्रतों की पूर्ति सम्भव नहीं। ३. अब पत्नी अपने लिए कहती है कि **अहम्**=मैं **परस्तात्**=परलोक का ध्यान करनेवाली बनूँ और **अहम्**=मैं **अवस्तात्**=यहाँ इहलोक का भी ध्यान करनेवाली होऊँ। 'उभे निपासि जन्मनी' ये तीसरे मन्त्र के शब्द मुझपर भी लागू हों। ४. **यद् अन्तरिक्षम्**=जो अन्तरिक्ष अर्थात् (अन्तरा क्षि) मध्यमार्ग है **तत् उ**=वह ही **मे पिता अभूत्**=मेरा रक्षक हुआ है, अर्थात् सदा मध्यमार्ग पर चलने से मैं रोगादि का शिकार नहीं होती। ५. **अहम्**=मैं **सूर्यम्**=सूर्य को **उभयतः**=दोनों ओर **ददर्श**=देखती हूँ। एक तो **अहम्**=मैं उस सूर्य को देखती हूँ जो कि **देवानां परमम्**=देवताओं में सर्वोत्कृष्ट है, अर्थात् ३३ देवों का मुखिया द्युलोक में वर्तमान यह सूर्य है और **गुहा यत्**=जो ब्रह्मरूपी सूर्य हृदयरूपी गुहा में विद्यमान है। बाह्य सूर्य के व्रत में चलती हुई मैं निरन्तर क्रियाशील बनूँ और अन्तःसूर्य को देखने के कारण मैं अपनी क्रियाओं में मार्गभ्रष्ट नहीं होती।

भावार्थ—पति यम-नियम का पालन करनेवाला, ज्ञानी आचार्यों से शिक्षा पाया हुआ, शक्तिशाली तथा प्रशस्तेन्द्रिय हो और उत्तम पत्नी की सहायता से व्रतों का पालन करे। पत्नी भी इहलोक व परलोक दोनों को देखे, सदा मध्यमार्ग पर चले। वह बाह्य सूर्य से क्रियाशीलता की प्रेरणा ले और अन्तःसूर्य से मार्ग का ज्ञान प्राप्त करे जिससे भटक न जाए।

ऋषिः—भरद्वाजः। **देवता**—गृहपतयः। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

प्रजापति

अग्ना३॥५ इ पत्नीवन्त्सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिब स्वाहा। प्रजापतिर्वृषासि

रेतोधा रेतो मयि धेहि प्रजापतेस्ते वृष्णो रेतोधसो रेतोधामशीय ॥१०॥

पति के लिए कहते हैं—१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील! **पत्नीवन्**=उत्कृष्ट पत्नीवाले! **देवेन**=दिव्य गुणों के पुञ्ज **त्वष्ट्रा**=सर्वदुःख विच्छेदक अथवा सर्वनिर्माता प्रभु के **सजूः**=साथ प्रीतिपूर्वक कार्यों का सेवन करनेवाला होकर तू **सोमं पिब**=सोम का पान कर। **स्वाहा**=इसके लिए तू स्वार्थों का, भोगवृत्ति का त्याग करनेवाला बन। भोगवृत्ति को छोड़कर सोम पान करने से तू भी छोटे रूप में 'देव त्वष्ट्रा' बन सकेगा, अर्थात् सुन्दर दिव्य गुणोंवाली सन्तानों को जन्म दे सकेगा। २. तू इस सोमपान के कारण **प्रजापतिः**=उत्तम प्रजा का रक्षक है, **वृषा असि**=शक्तिशाली है तथा (वृष=धर्म) धर्ममय जीवनवाला है। **रेतोधाः**=इस सोमपान के कारण ही तू उचित ऋतु में रेतस् का आधान करनेवाला होता है। ३. इस रेतोधा पति से पत्नी कहती है कि **मयि रेतः धेहि**=तू मुझमें रेतस् का आधान कर, जिससे मैं ते **प्रजापतेः**=प्रजा के रक्षक तुझ **वृष्णः**=शक्तिशाली तथा **रेतोधसः**=ऋतु में रेतस् का आधान करनेवाले के **रेतोधाम्**=वीर्यधारक, पराक्रमवाले पुत्र को **अशीय**=प्राप्त करूँ। **वस्तुतः** संयमी माता-पिता

ही शक्तिशाली सन्तान को जन्म दे पाते हैं। माता-पिता भी शक्तिशाली, उनकी सन्तान भी शक्तिशाली। वे शक्ति को अपने में भरनेवाले सचमुच प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'भरद्वाज' हैं।

भावार्थ—पति-पत्नी 'सोमपान' करनेवाले और रेतस् का अपने में धारण करनेवाले हों, जिससे उनकी सन्तानें भी शक्तिशाली हों।

ऋषिः—भरद्वाजः। देवता—गृहपतयः। छन्दः—भूरिगार्घ्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

हारियोजन

उपयामगृहीतो ऽसि हरिरसि हारियोजनो हरिभ्यां त्वा।

हयोर्धाना स्थ सहसोमा ऽइन्द्राय॥११॥

पत्नी पति से कहती है—१. उपयामगृहीतः असि=आपका जीवन उपासना के द्वारा यम-नियमों से युक्त है अथवा उपयाम=विवाह के द्वारा आपने मेरा हाथ ग्रहण किया है। २. हरिः असि =आप गृहस्थरूपी शकट के खेंचनेवाले हैं, यथायोग्य गृहाश्रम के व्यवहार को चलानेवाले हैं ३. हारियोजनः=(ऋक्सामे वै हरी-श०।४।४।३।७, तौ योजयति। स्वार्थे तद्धितः) अपने जीवन में आप ऋक् और साम को जोड़नेवाले हैं। 'ऋक्' विज्ञान है, 'साम' उपासना। आपके जीवन में विज्ञान व उपासना दोनों को स्थान मिला है। आपका जीवन 'विद्या-श्रद्धा' सम्पन्न है। इसमें मस्तिष्क व हृदय दोनों का ठीक विकास हुआ है। ४. हरिभ्यां त्वा=मैं भी ऋक् व साम, अर्थात् विद्या व श्रद्धा के विकास के द्वारा आपको स्वीकार करती हूँ। वस्तुतः पत्नी अपने जीवन में इन दोनों तत्त्वों का विकास करके ही पति की अनुकूलता का सम्पादन कर पाती है।

५. अब इन पति-पत्नी से प्रभु कहते हैं कि तुम हर्योः=इन विद्या व श्रद्धा के धानाः=धारण करनेवाले स्थः=हो अथवा कर्मेन्द्रिय पञ्चक व ज्ञानेन्द्रिय पञ्चकरूप इन्द्रियाश्रवों को तुम अपने वश में करनेवाले हो। ६. सहसोमाः=तुम दोनों साथ-साथ शक्ति का सम्पादन करनेवाले हो, अर्थात् गृहस्थ में भी संयमी जीवन बिताते हुए अपनी शक्ति को नष्ट नहीं होने देते। ७. इन्द्राय=मैं तुम्हें परमेश्वर्य की प्राप्ति के लिए इस गृहस्थ में सङ्गत करता हूँ। तुम गृहस्थ-धर्मों का ठीक प्रकार पालन करते हुए मोक्षरूप परमेश्वर्य को प्राप्त करो।

भावार्थ—गृहस्थ में हम 'ज्ञान व भक्ति' दोनों का समन्वय करके चलें। हम कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों को धारण करनेवाले बनें। शक्ति का सम्पादन करते हुए मोक्ष को प्राप्त करें।

ऋषिः—भरद्वाजः। देवता—गृहपतयः। छन्दः—आर्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

सात्त्विक भोजन

यस्तैऽअश्वसनिर्भक्षो यो गोसनिस्तस्य तऽइष्टयजुषस्तुतस्तौमस्य

शस्तोक्थस्योर्पहूतस्योर्पहूतो भक्षयामि॥१२॥

पिछले ग्यारह मन्त्रों में वर्णित सारी उत्तम बातें अन्ततोगत्वा भोजन की सात्त्विकता पर निर्भर करती हैं, अतः प्रस्तुत मन्त्र में उसी भोजन का उल्लेख करते हुए पत्नी कहती है कि १. यः=जो ते=तेरा भक्षः=भोजन अश्वसनिः=उत्तम कर्मेन्द्रियों को प्राप्त करानेवाला है, अर्थात् तेरी क्रियाशक्ति को बढ़ानेवाला है, २. यः गोसनिः=जो भोजन उत्तम ज्ञानेन्द्रियों को प्राप्त करानेवाला है (अशुवते कर्मसु अश्वाः, गमयन्ति अर्थान् गावः), अर्थात् जिस

भोजन के द्वारा ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति बढ़कर ज्ञानशक्ति में वृद्धि होती है, ३. उपहृतः = जो भोजन उपहृत हुआ है, अर्थात् 'अनमीवस्य, शुष्मिणः' जिस नीरोग व शत्रुओं के शोषक बलवाले भोजन की प्रार्थना की गई है, उस भोजन को भक्षयामि = मैं तुझे खिलाती हूँ। ४. तस्य ते = उस आपको जो (क) इष्टयजुषः = यजुर्मन्त्रों से निरन्तर यज्ञ करनेवाले हो (इष्टं यजुर्भिर्येन, तस्य)। (ख) स्तुतस्तोमस्य = (स्तुतं स्तोमैः साममन्त्रविशेषैर्ये) साम-मन्त्रों से प्रभु का स्तवन करनेवाले हो। (ग) शस्तोक्थस्य = (शस्तानि उक्थानि यस्य) प्रशस्त ऋक् मन्त्रोंवाले हो। (घ) उपहृतस्य = उपासना द्वारा प्रभु का आह्वान करनेवाले हो।

भावार्थ—भोजन वही ठीक है जो कर्मेन्द्रियों को क्रियाशील और ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञानप्राप्तिक्रम बनाता है और जिसकी वेद में इस रूप में प्रार्थना है कि यह नीरोगता व शत्रु-शोषण-शक्ति को देनेवाला हो। इससे पति का जीवन इतना सुन्दर बनेगा कि वे यजुर्मन्त्रों से यज्ञ करनेवाले बनेंगे। साममन्त्रों से प्रभु-स्तवन करेंगे तथा ऋग्मन्त्रों का उच्चारण करनेवाले होंगे, अतः पत्नी ने पति व परिवार को सात्त्विक भोजन ही खिलाना है।

ऋषिः—भरद्वाजः। देवता—गृहपतयो विश्वेदेवाः। छन्दः—निचृत्साम्युष्णिक्^{१,२,४}, साम्युष्णिक्^३, प्राजापत्योष्णिक्^४, निचृदार्युष्णिक्^५। स्वरः—ऋषभः॥

सात्त्विक भोजन का परिणाम पाप का अवयजन

१देवकृतस्यैनसो ऽवयजनमसि २मनुष्यकृतस्यैनसो ऽवयजनमसि ३पितृकृत-
स्यैनसो ऽवयजनमस्या ४त्मकृतस्यैनसो ऽवयजनमस्येनस ५एनसो ऽवयजनमसि ।
६यच्चाहमेनो विद्वाँश्चकार यच्चाविद्वाँस्तस्य सर्वस्यैनसो ऽवयजनमसि॥१३॥

१. गत मन्त्र के सात्त्विक भोजन का पहला परिणाम यह है कि हमारे जीवनो से पाप दूर हो जाते हैं, क्योंकि 'जैसा अन्न वैसा मन' आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः' यह कथन प्रामाणिक है। २. मन्त्र में कहते हैं कि इस सात्त्विक भोजन से तुम देवकृतस्य एनसः = देवों के विषय में किये गये पापों को अवयजनम् असि = दूर करनेवाले हो (अवयजन = दूर करना)। हम पृथिवी आदि देवों को दूषित नहीं करते। जल में गन्द नहीं फेंकते, अग्नि में रबड़ इत्यादि नहीं जलाते। ३. मनुष्यकृतस्य = तुम मनुष्य के विषय में किये गये एनसः = पापों को अवयजनम् असि = दूर करनेवाले हों। मनुष्यों के प्रति हम 'मनसा, वाचा, कर्मणा' अहिंसा धर्म का पालन करनेवाले होते हैं, उनके साथ मीठे शब्द बोलते हैं, चुभनेवाले वाग्बाण नहीं चलाते रहते। ४. पितृकृतस्य एनसः = तुम माता-पिता के विषय में किये गये पाप को अवयजनम् असि = दूर करनेवाले हो। सात्त्विक अन्न का सेवन करनेवाला माता-पिता की अवज्ञा न करके सदा उनका सम्मान करता है। ५. आत्मकृतस्य एनसः = तुम आत्मा के विषय में किये गये पाप को अवयजनम् असि = दूर करनेवाले हो। आत्मा के मूल्य पर पार्थिव भोगों को भोगना ही आत्मविषयक पाप है। आत्मा के लिए तो सारी पृथिवी को भी छोड़ना पड़े तो छोड़ देना चाहिए। ६. एनसः एनसः अवयजनमसि = एक-एक पाप से हमें दूर करनेवाले हो। सात्त्विक भोजन से हममें कोई भी पाप नहीं रहता। ७. यत् च = और जिस एनः = पाप को अहम् = मैं विद्वान् = जानता हुआ चकार = करता हूँ च = और यत् = जिसको अविद्वान् = न जानता हुआ चकार = कर बैठा हूँ तस्य सर्वस्य एनसः = उस सारे पाप का तुम अवयजनम् असि = दूर करनेवाले हो।

मनुष्य कई बार 'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः' जानता हुआ भी धर्म नहीं कर

पाता 'जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः' = अधर्म को जानता हुआ भी उससे रुकता नहीं। यह ठीक है कि परिपक्व ज्ञान की स्थिति में तो अधर्म सम्भव ही नहीं, परन्तु सामान्यतः मनुष्य जानता हुआ भी प्रलोभनों से आक्रान्त होकर बहुधा अधर्म करता है। 'सात्त्विक आहार' ज्ञानपूर्वक होनेवाले पापों से हमें बचाएगा। अनजाने में हो जानेवाले पापों से भी यह हमें बचानेवाला हो।

भावार्थ—सात्त्विक आहार से शुद्ध बुद्धिवाले होकर हम पापों से ऊपर उठ जाएँ।

ऋषिः—भरद्वाजः। देवता—गृहपतयः। छन्दः—विराडाषीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

आप्यायन—न्यूनता का दूरीकरण

सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा संशिवेन।

त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम्॥१४॥

१. सात्त्विक आहार से शुद्ध बुद्धिवाले होकर हम वर्चसा=ब्रह्मवर्चस् से, ज्ञानाध्ययन सम्पत्ति से समगन्महि=सङ्गत हों। सात्त्विक आहार से शरीर में शक्ति सुरक्षित होती है और यह ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर उसे दीप्त करती है, तब हम ब्रह्मवर्चस् को प्राप्त करते हैं। २. पयसा=(ओप्यायी वृद्धौ) हम सब अङ्गों का आप्यायन प्राप्त करें, हमारे सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग बढ़ें। ३. तनूभिः=(तनु विस्तारे) जिनकी शक्ति का विस्तार हुआ है, ऐसे अनुष्ठानक्षम शरीर के अवयवों से हम युक्त हों और ४. शिवेन मनसा=कल्याणकर मन से, शिवसंकल्पवाले मन से, सम् अगन्महि=हम सङ्गत हों। ५. सात्त्विक भोजन के परिणामरूप जब हमारा मन शिवसंकल्पोवाला होगा तब हम असन्मार्ग से धन कमानेवाले न होंगे। वह त्वष्टा=देवशिल्पी, हमारे अन्दर सब दिव्य गुणों का निर्माण करनेवाला प्रभु तथा (तनूकरणे) हमारे सब दुःखों को क्षीण (thin) करनेवाला, सुदत्रः=(सु+द+त्र) उत्तम दान से हमारा त्राण करनेवाला प्रभु हमारे लिए रायः=दान देने योग्य धनों का विदधातु=धारण करे। 'सात्त्विकता से धनों का सम्बन्ध ही न हो' ऐसी बात नहीं है। हाँ, सात्त्विक पुरुष अन्धाधुन्ध धन नहीं कमाता। यह कमाता है—सुपथ से तथा उन्हें दान में देने की रुचिवाला होता है। ६. वह प्रभु इन सात्त्विक आहारों के द्वारा तन्वः=शरीर का यत्=जो विलिष्टम्=(लिश् अल्पीभावे) न्यूनता व दोष हो उसे अनुमार्ष्टु=दूर करके शरीर का शोधन कर डाले।

भावार्थ—सात्त्विक आहार के परिणामरूप हमारा शरीर व बुद्धि ठीक हो, हम ठीक मार्ग से ही धन कमाएँ, हमारे शरीरों में कोई न्यूनता न रहे।

ऋषिः—अत्रिः। देवता—गृहपतयः। छन्दः—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

देवों की सुमति में ('अत्रि' बनना)

समिन्द्र णो मनसा नेषि गोभिः संसूरिभिर्मघवन्त्संस्वस्त्या।

सं ब्रह्मणा देवकृतं यदस्ति सं देवानां सुमतौ यज्ञियानां स्वाहा ॥१५॥

उसी प्रकरण में कहते हैं कि १. हे इन्द्र=सब शत्रुओं का विदारण करनेवाले प्रभो! आप नः=हमें मनसा=प्रशस्त मननशील मन से संनेषि=सम्यक्तया सङ्गत करते हैं। सात्त्विक आहार के द्वारा हमारा मन पवित्र होता है। २. गोभिः=(गावः इन्द्रियाणि) उत्तम इन्द्रियों से आप हमें संनेषि=सङ्गत करते हो। ३. हे मघवन्=ऐश्वर्यवन्! अथवा इन ऐश्वर्यों से विविध

यज्ञों (मघ=मख) को सिद्ध करनेवाले प्रभो! आप हमें **सूरिभिः**=विद्वानों के साथ **सं**=सङ्गत करते हो। इन विद्वानों के सम्पर्क से ही हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ उत्तमोत्तम ज्ञानों को प्राप्त कराके हमें उत्तम मननशील मनवाला बनाती है और इस प्रकार ४. **स्वस्त्या संनेषि**=आप हमें उत्तम-कल्याणमय जीवन से सङ्गत करते हैं। ५. इस उत्तम जीवन के लिए **ब्रह्मणा**=उस ज्ञान से हमें **सम्**=सङ्गत करते हैं **यत्**=जो ज्ञान **देवकृतम्**=महादेव आपसे सृष्टि के प्रारम्भ में अग्नि आदि ऋषियों के हृदय में **अस्ति**=प्रकाशित किया गया है। या जो ज्ञान विद्वान् ऋषि-मुनियों से दिया गया है। ६. हे प्रभो! आप ऐसी कृपा करो, जिससे हम सात्त्विक आहार से सात्त्विक रुचिवाले बनें और आप हमें **यज्ञियानाम्**=(यज्ञसम्पादिनाम्) यज्ञों का सम्पादन करनेवाले **देवानाम्**=देवों की **सुमतौ**=कल्याणी मति में **संनेषि**=सङ्गत कीजिए। ७. हे प्रभो! इस सबके लिए हम **स्वाहा**=आपके प्रति अपना अर्पण करते हैं अथवा स्वादादि की स्वार्थवृत्तियों को छोड़ते हैं।

भावार्थ—सात्त्विक आहार के द्वारा प्रभु हमारी रुचि को ही परिवर्तित कर देते हैं और हम विद्वानों-यज्ञिय देवों के सम्पर्क में रहकर अपने जीवनो को उत्तम बना पाते हैं। देवों की कल्याणी मति में रहते हुए हम 'काम-क्रोध-लोभ' से ऊपर उठते हैं। हमारा मन उत्तम होता है, कामादि तीनों से शून्य होने के कारण हम 'अ-त्रि' होते हैं।

ऋषिः—अत्रिः। देवता—गृहपतयः। छन्दः—विराडाषीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

'सु-द-त्रः'

सं वर्चसा पर्यसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सःशिवेन।

त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम्॥१६॥

गत मन्त्र का अत्रि कहता है कि **सुदत्रः**=उत्तम ज्ञानों के दान से त्राण करनेवाले **त्वष्टा**=अविद्यादि दोषों को नष्ट करनेवाले प्रभु की कृपा से **वर्चसा**=ब्रह्मवर्चस् से **पर्यसा**=आप्यायन (वर्धन) से **तनूभिः**=बलयुक्त शरीरों से **शिवेन मनसा**=शिवसंकल्पवाले मन से **समगन्महि**=हम सङ्गत हों। वह प्रभु **रायः विदधातु**=दान देने योग्य धनों को हममें धारण करें और **तन्वः**=शरीर का जो **विलिष्टम्**=न्यूनीभाव है, उसे **अनुमार्ष्टु**=ठीक कर डालें, शोध डालें, न्यूनता को दूर करके हमारी पूर्णता करें। हमारे शरीर, मन व मस्तिष्क में कहीं भी त्रुटि न रह जाए। हम 'अ-त्रि' बनें—हमारे शरीर भी त्रुटिशून्य हों, मन और मस्तिष्क भी।

भावार्थ—वे प्रभु हमें उत्तम ज्ञान का दान करके अल्पीभाव से शून्य करें। हम न्यूनताओं को दूर करके शरीर, मन व मस्तिष्क में पूर्णता का स्थापन करें।

ऋषिः—अत्रिः। देवता—विश्वेदेवा गृहपतयः। छन्दः—स्वराडाषीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

गृहस्थ में कौन प्रवेश करे

धाता रातिः संवितेदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपा देवोऽग्निः।

त्वष्टा विष्णुः प्रजयां सःशरणा यजमानाय द्रविणं दधातु स्वाहा॥१७॥

गृहस्थ के प्रकरण को ही आगे ले-चलते हुए कहते हैं कि १. **इदम्**=इस गृहस्थ को **जुषन्ताम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करें। कौन? (क) **धाता**=(धा=धारणपोषणयोः) जो धारण व पोषण की योग्यता रखता है, अर्थात् जो गृहस्थ की आवश्यकताओं के लिए आवश्यक

धन तो अवश्य कमाता है। (ख) रातिः=जो देनेवाला है (रा दाने)। गृहस्थ ने जहाँ अपने पालन-पोषण के लिए कमाना है वहाँ यज्ञों के लिए भी कमाना है। (ग) सविता =जो उत्पादक है, जो निर्माणात्मक कार्यों में लगता है और उत्पादन-शक्ति रखता है, अर्थात् सन्तान-निर्माण की योग्यता रखता है। (घ) प्रजापतिः=सन्तान की रक्षा करने में रुचिवाला है। (ङ) निधिपाः =अपने खजाने व कोश की रक्षा करनेवाला है। शरीर में उत्पन्न सोम ही इसकी वास्तविक निधि है, इस सोम की रक्षा से ही यह अपने ज्ञानकोश की भी रक्षा करता है। (च) देवः=यह उत्तम व्यवहारवाला है अथवा काम-क्रोधादि वासनाओं को जीतने की कामनावाला है (दिव्=व्यवहार, विजिगीषा)। (छ) अग्निः =प्रगतिशील है अथवा प्रकाश को प्राप्त तथा दोषों का दहन करनेवाला है। (ज) त्वष्टा=दिव्य गुणों का अपने में निर्माण करनेवाला (त्वष्टा=देवशिल्पी) अथवा सब बुराइयों को क्षीण करनेवाला (त्वक्ष्=तनूकरणे) है। (झ) विष्णुः=व्यापक व उदार मनोवृत्तिवाला है (विष्णु व्याप्तौ)। २. उल्लिखित नौ गुणों से युक्त गृहस्थों से कहते हैं कि (क) प्रजया संररणाः=अपने सन्तान के साथ (संररणाः=संरममाणाः) आनन्द को अनुभव करते हुए, उन्हीं के साथ क्रीड़ा करते हुए, खेल-खेल में ही उनका शिक्षण करते हुए। (ख) यजमानाय=यज्ञशील पुरुष के लिए द्रविणम्=धन को दधात=धारण करनेवाले बनो, अर्थात् उत्तम कर्मों में लगे हुए, लोकहित के कार्यों में व्यापृत लोगों के लिए धनों को धारण करनेवाले बनो। इन्हें पात्र जानकर दान देनेवाले होओ। स्वाहा=इसके लिए स्वार्थत्याग तो करना ही है।

भावार्थ—१. धातृत्व आदि नव गुणों से युक्त पुरुष ही गृहस्थ में प्रवेश का अधिकारी है। २. उसे प्रजा के निर्माण में आनन्द अनुभव करना चाहिए, तथा ३. पात्रों में दान देनेवाला होना चाहिए।

ऋषिः—अत्रिः। देवता—गृहपतयः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

गृहस्थ की तीन बातें

सुगा वौ देवाः सदनाऽअकर्म यऽआजग्मेदःसर्वनं जुषाणाः।

भरमाणा वहमाना हवीष्यस्मे धत्त वसवो वसूनि स्वाहा॥१८॥

१. हे देवाः=उत्तम व्यवहारवालो तथा काम-क्रोध-लोभ को जीतने की कामनावाले गृहस्थो! ये=जो तुम इदं सवनम्=इस सन्तान-निर्माण के साधनभूत गृहस्थ-यज्ञ को जुषाणाः=प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुए आजग्म=आये हो, उन वः=तुम्हारे सदना=(सदनानि) घरों को सुगाः=सुन्दर गतिवाला, उत्तम क्रियाओंवाला अकर्म=करते हैं, अर्थात् जब गृहस्थ लोग सन्तान-निर्माणरूप यज्ञ को ही गृहस्थ में प्रवेश का उद्देश्य समझते हैं, तब घरों में उत्तम कार्य ही चलते हैं। २. ऐसे गृहस्थों से प्रभु कहते हैं कि (क) भरमाणाः=घर के सब सदस्यों का भरण करते हुए, उनके पालन-पोषण में कमी न आने देते हुए (ख) हवीषि वहमाना=हवियों का वहन करते हुए, अर्थात् घरों में यज्ञों को विलुप्त न होने देते हुए (ग) अस्मे=हमारी प्राप्ति के लिए वसवः=हे उत्तम निवासवाले गृहस्थो! आप वसूनि= उत्तमोत्तम बातों को, उत्तम गुणों व धनों को धत्त=धारण करो। स्वाहा=इस सबके लिए तुम स्वार्थत्याग करनेवाले बनो।

मन्त्रार्थ से स्पष्ट है कि १. गृहस्थ को गृहस्थाश्रम का उद्देश्य सन्तान-निर्माण ही समझना चाहिए। इस सदगृहस्थ को चाहिए कि २. गृहस्थ का पालन-पोषण ठीक प्रकार से कर सके (भरमाणाः)। ३. यज्ञ की वृत्तिवाला हो (वहमाना हवीषि)। ४. तथा प्रभु-प्राप्ति

के उद्देश्य से उत्तम गुणों को धारण करनेवाला बने।

भावार्थ—१. हम गृहस्थ को यज्ञ समझें। २. इसमें गृहजनों के पालन-पोषण तथा यज्ञों के लिए धन कमानेवाले बनें और ३. उत्तम रत्नों को, रमणीय गुणों को धारण करें जिससे प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—अत्रिः। **देवता**—विश्वेदेवा गृहपतयः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

असु-घर्म-स्वः

याँ२॥ऽआवहऽउशतो देव देवाँस्तान् प्रेरयु स्वेऽअग्ने सधस्थे।

जक्षिवांसः पपिवांसश्च विश्वेऽसुं घर्मश्चस्वरातिष्ठतानु स्वाहा॥१९॥

पिछले मन्त्र में घरों में यज्ञों की परिपाटी का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में उन यज्ञों के सम्पादन के लिए समय-समय पर सर्वहित की कामना करनेवाले विद्वानों को आमन्त्रित करने का वर्णन है, पर यह आमन्त्रण पत्नी की अनुकूलता के साथ ही होना चाहिए। मन्त्र का 'सधस्थ' शब्द इसी बात पर बल दे रहा है।

१. हे देव=उत्तम व्यवहारवाले व वासनाविजिगीषु गृहस्थ! यान्=जिन उशतः=मङ्गल की कामना करनेवाले देवान्=देवों को आवहः=(आहूतवान् असि-द०) आपने बुलाया है। हे अग्ने=घर की उन्नति करनेवाले! तू तान्=उन देवों को स्वे=अपने सधस्थे=सबके मिलकर ठहरने के स्थानभूत घर में, अर्थात् जिस घर में पति-पत्नी, घर के वृद्ध व सन्तान सभी मिलकर चल रहे हैं, जिसमें विरुद्धमति के कारण लड़ाई-झगड़ा नहीं है, उस घर में प्रेरयु=प्रेरित कर, आने के लिए आमन्त्रित कर। २. यज्ञ हो चुकने पर जक्षिवांसः=जिन्होंने यज्ञशेष खाया है च=तथा पपिवांसः=शुद्ध जल का पान किया है विश्वे=वे तुम सब असुम् अनु=प्राणशक्ति को लक्ष्य बनाकर तथा घर्म अनु=(घर्म=यज्ञ-नि० ३।१७) यज्ञ को लक्ष्य बनाकर (घर्म यज्ञ इसलिए है कि इससे मलों का क्षरण होता है और दीप्ति प्राप्त होती है-घृ क्षरणदीप्त्योः) तथा स्वः अनु=स्वर्ग को तथा सुख को लक्ष्य बनाकर आतिष्ठत=सर्वथा उद्योग करो और स्वाहा=इसके लिए जितना भी 'स्व' का त्याग आवश्यक हो उतना 'हा' छोड़नेवाले बनो। ३. घरों में विद्वान् अतिथियों के आने से यज्ञादि का कार्यक्रम चलता रहता है और वैषयिक वृत्ति न होने से प्राणशक्ति सुरक्षित रहती है-यज्ञ होते रहते हैं और घर सुखमय स्वर्ग-सा बन जाता है। ४. इस सबके लिए स्वाहा=स्वार्थत्याग आवश्यक है।

भावार्थ—हम घरों में विद्वान् अतिथियों को आमन्त्रित करें। उनपर यह प्रभाव न पड़े कि घर में पति-पत्नी में मेल नहीं है। हम यज्ञशेष के खानेवाले बनें। 'प्राणशक्ति की वृद्धि, यज्ञों की प्रवृत्ति व घर को स्वर्गतुल्य बनाना' हमारा लक्ष्य हो।

ऋषिः—अत्रिः। **देवता**—गृहपतयः। **छन्दः**—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

होतृ-वरण

वयश्चि त्वा प्रयति यज्ञेऽअस्मिन्नग्ने होतारमवृणीमहीह।

ऋधगयाऽऋधगुताशमिष्ठाः प्रजानन् यज्ञमुपयाहि विद्वान्स्वाहा॥२०॥

१. गत मन्त्र में विद्वानों को घर में आमन्त्रित करने का उल्लेख था। उसी बात को कहते हैं कि वयम्=हम हि=निश्चय से त्वा=तुझ होतारम्=होता को अस्मिन्=इस प्रयति=(प्रगच्छति-प्रारभ्यमाणे) चल रहे यज्ञे=यज्ञ में इह=यहाँ अपने घर में अवृणीमहि=वरते

हैं। आपके निरीक्षण में हम इस यज्ञ को सफलतापूर्वक करनेवाले बनते हैं। २. हे अग्ने=मार्गदर्शक होतः! आप हमसे वृत्त होकर ऋधगयाः=(ऋधक् अयाः) इस यज्ञ को समृद्ध करते हुए पूर्ण करनेवाले हैं। उत=तथा ऋधक्=हमें समृद्ध करते हुए ही आपने अशमिष्ठाः=सब विघ्नों व उपद्रवों को शान्त किया है। हमारे मनो में होनेवाली अशान्ति को भी आपने दूर किया है। ३. हे होतः! यज्ञं प्रजानन्=यज्ञ को अच्छी प्रकार समझते हुए विद्वान्=ज्ञानी आप उपयाहि=हमें समीपता से प्राप्त होओ। आपके सम्पर्क में आते रहने से हमारी यज्ञियवृत्ति बनी रहेगी और स्वाहा=यह सुहुत=उत्तम यज्ञादि कार्य सदा चलते ही रहें।

भावार्थ—हम यज्ञों के लिए ज्ञानी होता का वरण करते हैं। उनकी सङ्गति में हमारे यज्ञ निर्विघ्न पूर्ण होते रहते हैं। हमारी चित्तवृत्ति भी शान्त होती है।

ऋषिः—अत्रिः। देवता—गृहपतयः। छन्दः—स्वराडार्षुष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

मार्ग-वित्

देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित्।

मनसस्पतः इमं देव यज्ञं स्वाहा वाते धाः॥२१॥

१. हे गातुविदः=मार्ग को जाननेवाले देवाः=विद्वानो! गातुं वित्त्वा=मार्ग को जानकर गातुम् इत=मार्ग पर चलो। वस्तुतः देव या विद्वान् वही है जो संसार में अपनी जीवन-यात्रा के मार्ग को ठीक से जानता है। जानता ही नहीं, जानकर उस मार्ग पर चलता भी है। २. हे मनसस्पते=मन के पति! अपने मन को वश में करनेवाले ! देव=विद्वन्! तू इमं यज्ञम्=इस यज्ञ को स्वाहा=उत्तमता से करनेवाला हो। ३. ये यज्ञ तेरे जीवन को पवित्र बनाएँगे। इन यज्ञों को तूने वाते=वायु के निमित्त भी धाः=धारण करना है। इन यज्ञों के द्वारा वायुमण्डल पवित्र होगा और ऋतुओं की अनुकूलता होगी, अतः इन यज्ञों को तूने अवश्य करना है। इन यज्ञों के लिए ही मन को अपने वश में करने का प्रयत्न करना है।

भावार्थ—यज्ञ ही हमारी जीवन-यात्रा के मार्ग हों। इनसे जहाँ हमारा जीवन पवित्र हो, वहाँ वायुमण्डल की पवित्रता से आधिदैविक आपत्तियाँ भी दूर हों।

ऋषिः—अत्रिः। देवता—गृहपतयः। छन्दः—विराडार्षुष्णिक्*, विराडाचीबृहती†। स्वरः—ऋषभः*, मध्यमः†।

यज्ञ

*यज्ञं यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहा।

†एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाक्ः सर्ववीरस्तं जुषस्व स्वाहा॥२२॥

१. गृहस्थ के ही विषय में कहते हैं कि यज्ञ=(यो यजति सङ्गच्छते—द०) सबके साथ मिलकर प्रीतिपूर्वक चलनेवाले गृहस्थ! यज्ञं गच्छ=तू यज्ञ को प्राप्त हो, अर्थात् इस गृहस्थ में (यज् देवपूजा) विद्वानों के सत्काररूप धर्म को प्राप्त हो। तेरे घर में अतिथियज्ञ नियमपूर्वक चले। २. यज्ञपतिं गच्छ=तू सब यज्ञों के रक्षक परमात्मा को प्राप्त हो, प्रभु की उपासना करनेवाला बन। ३. स्वाहा=(सत्यया क्रियया—द०) इन यज्ञादि सत्य क्रियाओं को करता हुआ तू स्वां योनिं गच्छ=(प्रकृतिं स्वात्मस्वभावम्—द०) अपने स्वभाव को प्राप्त हो। पुरुष होने के नाते 'पौरुष' ही तो तेरा स्वभाव है, मनुष्य होने के नाते 'मननशीलता' वाला तू हो, पञ्चजन होने के कारण पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्द्रियों व पाँचों प्राणों का तू विकास करनेवाला हो। ४. प्रभु के प्रति तेरी यही प्रार्थना हो कि हे प्रभो! एषः ते

यज्ञः=यह यज्ञ आपका ही है। इसके करनेवाले आप ही हैं, हम सब तो निमित्तमात्र हैं। यह यज्ञ **सहसूक्तवाकः**=ऋग्, यजुः आदि के सूक्तों के उच्चारण से युक्त है। **सर्ववीरः**=यह यज्ञ सब वीरोंवाला है, हमारे सब सन्तान भी इसमें सम्मिलित हुए हैं। तं **जुषस्व**=उसे आप प्रीतिपूर्वक सेवन कीजिए। **स्वाहा**=इस प्रकार हम आपके प्रति अपना अर्पण करते हैं।

भावार्थ—हम विद्वानों के सत्काररूप अतिथियज्ञ व प्रभु की उपासनारूप ब्रह्मयज्ञ को प्रतिदिन करनेवाले बनें। उत्तम कर्मों द्वारा प्रभु को प्रीणित करनेवाले हों।

ऋषिः—अत्रिः^३, शुनःशेषः^४। **देवता**—गृहपतयः। **छन्दः**—याजुष्युष्णिक्^३, निचृदाषींत्रिष्टुप्^४, आसुरीगायत्री^१। **स्वरः**—ऋषभः^३, धैवतः^४, षड्जः^१॥

विशाल संसार में सभी के लिए स्थान है

३माहिर्भूर्मा पृदाकुः । ४उरुःहि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवाऽउ ।

अपदे पादा प्रतिधातवेऽकरुतापवक्ता हृदयाविधश्चित् ।

५नमो वरुणायभिष्ठितो वरुणस्य पाशः॥२३॥

१. गत मन्त्र में यज्ञियवृत्ति का उल्लेख था। यज्ञियवृत्तिवाला व्यक्ति दूसरे से लड़ता नहीं, न हानि पहुँचाता है। मन्त्र में कहते हैं कि—**मा अहिः भूः**=तू साँप मन बन, अर्थात् कभी कुटिलता का आश्रय मत ले और न ही साँप की तरह औरों को डसनेवाला बन। कभी कड़वे-चुभनेवाले शब्द न बोल। २. **मा पृदाकुः**=तू अजगर मत बन। दूसरे की सम्पत्ति को हड़पनेवाला मत बन, क्योंकि उस **राजा वरुणः**=सारे संसार के शासक वरुण ने **हि**=निश्चय से **उरुम् चकार**=इस संसार को अत्यन्त विशाल बनाया है। दूसरे के भाग को हड़पकर क्या करना? परस्पर लड़ना भी क्यों? ३. उस प्रभु ने तो **सूर्याय उ**=सूर्य के लिए भी, जोकि पृथिवी से लाखों गुणा बड़ा है, **अन्वेतवा**=अनुक्रम से चलने के लिए, **पन्थाम्**=मार्ग को **चकार**=बनाया है फिर इस छोटे से देह में प्रविष्ट मेरे लिए इस संसार में कोई कमी है क्या? नहीं, मुझे अपने हृदय को विशाल बनाना चाहिए और छोटे-छोटे भू-भागों के लिए भाइयों से लड़ना न चाहिए। ४. **अपदे**=जहाँ पाँव का रखना भी कठिन था, जहाँ नाममात्र भी आना-जाना न था, वहाँ भी **पादा प्रतिधातवे**=पाँवों के प्रतिधारण-स्थापन के लिए **अकः**=उस प्रभु ने व्यवस्था कर दी। प्रभु-कृपा से जङ्गल में भी मङ्गल हो गया। जहाँ दिन में भी चलना कठिन था वहाँ रात में भी चलना सुगम हो गया, अतः मनुष्य को चाहिए यही कि परस्पर लड़ने की बजाय तनिक पुरुषार्थ से वीरान भू-भागों को आबाद कर ले। ५. **उत**=और वे प्रभु **हृदयाविधः**=दूसरे के हृदयों को पीड़ित करनेवाली वाणी बोलनेवाले की **चित्**=भी **अपवक्ता**=भर्त्सना करनेवाले हैं। उसे प्रभु अपनी गोद में स्थान नहीं देते। ६. हमें चाहिए कि हम प्रातः-सायं **वरुणाय नमः**=इस वरुण के प्रति नतमस्तक हों, **वरुणस्य पाशः**=उस वरुण का पाश **अभिष्ठितः**=दोनों ओर स्थित है। वे प्रभु ऐहलौकिक व पारलौकिक दोनों ही दण्ड देते हैं। औरों का भाग हड़पनेवाले को यहाँ नींद नहीं और परलोक में यह सर्पादि की हीन योनि में ही जाता है।

भावार्थ—हम संसार में सरलवृत्ति से चलें, औरों के भाग को न हड़प जायें। संसार अत्यन्त विशाल है, छोटे-छोटे भू-भागों के लिए परस्पर लड़ें नहीं। कभी मर्मपीड़ाकर वचन न बोलें।

ऋषिः—अत्रिः। देवता—गृहपतयः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

निर्मल व दीप्त भाषण (घृतोच्चारण)

अग्नेरनीकमपऽआविवेशापात्रपात् प्रतिरक्षन्नसुर्यम्।

दमेदमे समिधं यक्ष्यग्ने प्रति ते जिह्वा घृतमुच्चरण्यत् स्वाहा॥२४॥

गृहस्थ के लिए ही कहते हैं कि १. तुम अपना जीवन ऐसा बनाओ कि अग्नेः=अग्नि का अनीकम् =बल अपः आविवेश=जलों में प्रविष्ट हो। तुम्हारा जीवन जल की भाँति शान्त हो, परन्तु उस शान्ति में अग्नि की तेजस्विता हो। शान्ति में शक्ति का पुट हो। अग्नि व जल तत्त्व मिल जाँएँ। वस्तुतः इनके मेल में ही रस की उत्पत्ति है। जीवन का वास्तविक आनन्द 'शान्ति+शक्ति' में है। २. तू अपात्रपात्=(आपः रेतः) रेतस् का न गिरने देनेवाला हो। शरीर में शक्ति का संयम करनेवाला हो। असुर्यम्=(असवः प्राणाः तान् राति, तेषु साधुः) प्राणशक्ति देनेवालों में सर्वोत्तम इस सोम का तू प्रतिरक्षन्=शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रक्षा करनेवाला हो। यह सुरक्षित हुआ सोम ही तेरे प्रत्येक अङ्ग को शक्तिशाली बनाएगा। ३. इस सोम की रक्षा के लिए सब इन्द्रियों का विजय व दमन आवश्यक है। इस दमेदमे=प्रत्येक इन्द्रिय के दमन के निमित्त हे अग्ने=प्रगतिशील जीव! तू समिधम्=(इन्धु दीप्तौ) उस सर्वतो देदीप्यमान प्रभु को यक्षि=अपने साथ सङ्गत कर, प्रभु की उपासना कर। यह उपासना तुझे इन्द्रियदमन में समर्थ करेगी और तू अपने शरीर में इस असुर्य सोमशक्ति की रक्षा कर पाएगा। ४. उस देदीप्यमान प्रभु का उपासक बनकर तू यह ध्यान कर कि ते जिह्वा=तेरी जिह्वा प्रति=प्रत्येक व्यक्ति के प्रति घृतम्=निर्मल व दीप्त शब्दों का उच्चरण्यत्=उच्चारण करे। प्रभु-भक्त कठोर शब्द थोड़े ही बोलता है। स्वाहा=यह सदा सुन्दर क्रिया से युक्त होता है।

भावार्थ—हम अपने जीवनो में शान्ति व शक्ति का समन्वय करें। वीर्य की रक्षा करें, यही हमें प्राणशक्ति-सम्पन्न करेगा। हम इन्द्रिय-विजय के लिए प्रभु का उपासन करें। उपासक बनकर उत्तम शब्द ही बोलें।

ऋषिः—अत्रिः। देवता—गृहपतयः। छन्दः—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

समुद्र में हृदय का धारण

समुद्रे ते हृदयमप्सवृन्तः सं त्वा विशन्त्वोषधीरुतापः।

यज्ञस्य त्वा यज्ञपते सूक्तोक्तौ नमोवाके विधेम यत् स्वाहा॥२५॥

१. ते=तेरा हृदय समुद्रे=(स-मुद्रे) सदा आनन्द के साथ निवास करनेवाले आनन्दमय प्रभु में है, अर्थात् तू अपने हृदय में सदा प्रभु का स्मरण करता है अप्सु अन्तः=तेरा हृदय इन रेतःकणों में है (आपः रेतो भूत्वा), अर्थात् इनकी रक्षा का तुझे सदा ध्यान रहता है। वस्तुतः इन रेतःकणों की रक्षा से ही तो प्रभु का भी दर्शन होना है। २. अथवा ते हृदयम्=तेरा हृदय समुद्रे=इस समुद्र के समान व्यवहार के गाम्भीर्यवाले गृहस्थ में है तथा अप्सु अन्तः=(आपः=प्रजाः) तेरा ध्यान प्रजाओं में है (यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्। तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥-मनु)। ३. 'तेरा ध्यान प्रभु में लग सके, तू रेतःकणों की रक्षा कर सके तथा तू गृहस्थ का सुन्दर सञ्चालन करते हुए सुन्दर प्रजाओं का निर्माण कर सके' इस सबके लिए त्वा=तुझमें ओषधीः उत आपः=ओषधियाँ व जल

संविशन्तु=सम्यक्तया प्रविष्ट हों। इन सब कार्यों के लिए मनुष्य का भोजन सात्त्विक हो, मद्य-मांस के प्रयोग से वह दूर हो। ४. सात्त्विक आहारवाले हे यज्ञपते=यज्ञों के रक्षक! त्वा=तुझे यज्ञस्य=यज्ञों के सूक्तोक्तौ=सूक्तों के उच्चारण में तथा नमोवाके=नमस् के उच्चारण, प्रभु के आराधन में विधेम=स्थापित करते हैं यत्=यदि स्वाहा=तू तनिक स्वार्थ का त्याग करता है। स्वार्थत्यागी ही यज्ञों व प्रभु-ध्यान में प्रवृत्त हो पाता है।

भावार्थ—तू प्रभु में व सोमरक्षा में अपने हृदय को स्थापित कर। वानस्पतिक भोजन व जल का सेवन करनेवाला बन। तेरा जीवन यज्ञमय हो। तू निरन्तर प्रभु-उपासन करनेवाला हो।

ऋषिः—अत्रिः। देवता—गृहपतयः। छन्दः—स्वराडार्षीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

पति-पत्नी की पारस्परिक प्रेरणा

देवीरापऽएष वो गर्भस्तस्सुप्रीतस्सुभृतं बिभृत।

देव सोमैष ते लोकस्तस्मिञ्छञ्च वक्ष्व परि च वक्ष्व॥२६॥

पति पत्नी से कहता है—१. देवीः आपः=(देदीप्यमानाः विदुष्यः, शुभगुणकर्मविद्या-व्यापिन्यः—द०, अप् व्याप्तौ) हे ज्ञान से दीप्त, सदा उत्तम कर्मों में व्याप्त रहनेवाली पत्नि! एषः=यह वः=तुम्हारा गर्भः=गर्भ है। तम्=इस गर्भस्थ बालक का सुप्रीतम्=श्रेष्ठ प्रीति के साथ सुभृतम्=और जैसे उत्तम रक्षा से धारण किया जाए, वैसे बिभृत=धारण व पोषण करो। (क) यदि माता सदा प्रसन्न मनवाली रहती है तो गर्भस्थ बालक का शरीर भी बड़ा सुन्दर बनता है। (ख) माता एक-एक क्रिया का ध्यान करती है तो बच्चे के चरित्र का निर्माण गर्भ में ही हो जाता है। ये ही दो बातें 'सुप्रीतम्' व 'सुभृतम्' इन क्रिया-विशेषणों से कही गई हैं। २. अब पत्नी पति से कहती है कि देव=हे दिव्य गुणों के पुञ्ज, ज्ञान से देदीप्यमान! सोम=शक्ति के पुञ्ज, संयमी जीवन के द्वारा सोम की रक्षा करनेवाले पते! एषः=यह गर्भस्थ बालक ही तो ते लोकः=तेरा लोक है, तेरे वंश को चलानेवाला है। तेरे भविष्य को प्रकाशमय (लोक=प्रकाश) बनानेवाला है। तस्मिन्=उसमें शम्=शान्ति को वक्ष्व=प्राप्त करा। च=और उससे परिवक्ष्व=सब पीड़ाओं को दूर करनेवाला हो। (सर्वाः आर्तीः परिवह—उ०)। संक्षेप में तू ऐसी उत्तम व्यवस्था कर कि तू गर्भस्थ बालक को कल्याण प्राप्त करानेवाला और उसके अकल्याण को दूर करनेवाला बन।

भावार्थ—पत्नी गर्भ का प्रेम से व पोषण की वृत्ति से धारण करे। पति इस बालक के लिए उसकी माता के दोहद (गर्भवती की इच्छा) को पूरा करता हुआ कल्याण प्राप्त कराए और अकल्याण को दूर करे।

सूचना—'आपः' शब्द नित्य बहुवचनान्त है, अतः यहाँ बहुवचन को देखकर बहुपत्नीत्व की कल्पना ठीक नहीं।

ऋषिः—अत्रिः। देवता—दम्पती। छन्दः—भुरिक्प्राजापत्यानुष्टुप्*, स्वराडार्षीबृहती^१।

स्वरः—गान्धारः*, मध्यमः^१॥

देवदेवानां समित् दीपन

*अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः।^१अव देवैर्देवकृतमेनोऽयासिषम्व मर्त्यैर्मर्त्यकृतं पुरुराव्यो देव रिषस्पाहि देवानां^२समिदसि॥२७॥

१. अवभृथ=हे यज्ञान्तस्नान करनेवाले! पति एक दिन गृहस्थ-यज्ञ में प्रविष्ट हुआ

था। सन्तान होने पर यह यज्ञ सफल व पूर्ण होता है, अतः सन्तान होने पर स्नान करनेवाला यह 'अवभृथ' ही है। २. निचुम्पुण=(नितरां मन्दगामिन्-द०) सदा धैर्य से, विचारपूर्वक धीमे-धीमे प्रत्येक कार्य को करनेवाले! यह कभी जल्दबाजी नहीं करता। विशेषकर सन्तानोत्पादन के कार्य में यह अत्यन्त मन्द गति से चलता है। ३. निचेरुः असि=(यो धर्मेण द्रव्याणि नित्यं चिनोति-द०) यह सदा धर्म से द्रव्यों का चयन करनेवाला है। अथवा ('निभृतं चरति अस्मिन्'-भट्टभास्कर) तू इस गृहस्थ में बड़े विश्वास के साथ चलनेवाला है। वस्तुतः गृहस्थ का मूलमन्त्र परस्पर विश्वास ही होना चाहिए। इसके बिना प्रेम में वृद्धि नहीं हो सकती। ४. निचुम्पुणः=तू निचेरुः=नितरां चरणशील तो है, परन्तु धैर्यपूर्वक धीमे-धीमे चलनेवाला है-देखकर पग रखनेवाला है। ५. देवैः=इन द्योतनात्मक (ज्ञानेन्द्रियों) व व्यवहार-साधक (दिव् दीप्ति, व्यवहार) (कर्मेन्द्रियों) इन्द्रियों से देवकृतम्=पृथिवी आदि देवों के विषय में किये गये अथवा विद्वानों के विषय में किये गये एनः=पाप को अव अयासिषम्=मैं दूर करनेवाला होऊँ। मर्त्यैः=मरणधर्मा मनुष्यों से मर्त्यकृतम्=मनुष्यों के विषय में किये जानेवाले कटु भाषण, द्रोहादि पापों से भी मैं अव=अपने को दूर रखनेवाला होऊँ। ६. हे देव=सब दानों के पति प्रभो! पुरुराव्यः=इस पालन व पूरण करनेवाली (पुरु) दान की वृत्ति के द्वारा (राव्यः) रिषः=हिंसा से पाहि=मेरी रक्षा कीजिए। दान के द्वारा लोभवृत्ति का संहार होकर सब पाप दूर हो जाते हैं। मनुष्य दान के द्वारा वासनाओं का खण्डन करके अपने जीवन का शोधन करता है। ७. हे प्रभो! दानवृत्ति द्वारा ही आप 'देवानां समित् असि' हममें दिव्य गुणों को दीप्त करनेवाले हैं। सारी उत्तमताएँ प्रभुकृपा से ही प्राप्त हुआ करती हैं। वे प्रभु ही हममें दिव्य गुणों की ज्योति जगाते हैं।

भावार्थ—हम प्रत्येक कार्य में सफल हों, शान्तिपूर्वक चलें, उत्तम गुणों का चयन करें। न देवों के विषय में पाप करें, न मर्त्यों के विषय में। वासनाओं से प्राप्त होनेवाली हिंसा को दान द्वारा विनष्ट करें। दिव्य गुणों को दीप्त करें।

ऋषिः—अत्रिः। देवता—दम्पती। छन्दः—भुरिक्साम्युष्णिक्^३, भुरिगासुर्युष्णिक्^१, प्राजापत्यानुष्टुप्^४।

स्वरः—ऋषभः^३,^१, गान्धारः^४॥

दशमास्य एजन

^३एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह। ^४यथायं वायुरेजति यथा समुद्रऽएजति।

^१एवायं दशमास्योऽअस्त्रज्जरायुणा सह॥२८॥

१. अब गर्भस्थ बालक बाहर आता है। उसके लिए कहते हैं कि—यह दशमास्यः=दस मासों में होनेवाला गर्भः=(गर्भे, स्त्रीगुणान् गृह्णाति गुणाश्चास्या गृह्यन्ते अथ गर्भो भवति-नि० १०।२३) माता-पिता के गुणों को ग्रहण करनेवाला यह गर्भ, अर्थात् गर्भस्थ बालक जरायुणा सह=आवरण के साथ एजतु=कम्पमय हो, कुछ गतिवाला हो। २. यथा=जैसे अयम् वायुः=यह वायु एजति=चलता है यथा=जैसे समुद्रः=समुद्र एजति=कम्पित होता है एव=इसी प्रकार अयम् दशमास्यः=यह दसवें मास में होनेवाला जरायुणा सह=जरायु के साथ अस्त्रत्=अधः स्रवतु—नीचे स्रुत हो, अर्थात् गर्भ से बाहर आये।

भावार्थ—जैसे वायु व समुद्र की स्वाभाविक गति व कम्पन है, इसी प्रकार दशमास्य गर्भ में भी कम्पन हो और वह मातृगर्भ से बाहर आये।

ऋषिः—अत्रिः। देवता—दम्पती। छन्दः—भुरिगार्घ्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

यज्ञिय-गर्भ

यस्यै ते यज्ञियो गर्भो यस्यै योनिर्हिरण्ययी।

अङ्गान्यहुता यस्य तं मात्रा समजीगमश्वाहा॥२९॥

१. यस्यै=(षष्ठ्यर्थे चतुर्थी) जिस उत्तम लक्षणवाली ते=तेरा गर्भः=गर्भ यज्ञियः=यज्ञिय है (यज्ञमर्हति) पवित्र है, उत्तम गुणों से सङ्गतीकरण योग्य है। २. यस्यै=जिसका योनिः=जन्मस्थान हिरण्ययी=रोगरहित व शुद्ध है (ह=हरणे)। ३. अतएव यस्य=जिस गर्भस्थ बालक के अङ्गानि=सब अङ्ग अहुता=अकुटिल व सरल हैं। ४. तम्=उस बालक को मात्रा=माता के साथ स्वाहा=सम्यक् क्रिया से समजीगमम्=प्राप्त होऊँ।

मन्त्रार्थ से निम्न बातें स्पष्ट हैं—१. जब बच्चा गर्भस्थ है उसी समय से माता ने उसमें उत्तम गुणों को सङ्गत करने का प्रयत्न किया है। २. माता की योनि निर्दोष है। इसकी निर्दोषता पर ही स्वस्थ बालक की उत्पत्ति निर्भर है। ३. प्रयत्न यही हो कि बालक का कोई भी अङ्ग विकल न हो। ४. नियमित उत्पत्ति में माता व बालक दोनों पूर्ण स्वस्थ होने ही चाहिएँ।

भावार्थ—माता गर्भ में बालक के चरित्र का निर्माण कर देती है। वह माता है—गर्भमानकर्त्री है—गर्भ में बच्चे को बनानेवाली है।

ऋषिः—अत्रिः। देवता—दम्पती। छन्दः—आर्षीजगती। स्वरः—निषादः॥

सन्तान-इन्दु का उदय (चन्द्रोदय)

पुरुदस्मो विषुरूपऽइन्दुरन्तर्महिमानमानञ्ज धीरः।

एकपदीं द्विपदीं त्रिपदीं चतुष्पदीमष्टापदीं भुवनानु प्रथन्ताश्वाहा॥३०॥

गत मन्त्र के अनुसार यदि माता गर्भ में ही बालक का सुन्दरता से निर्माण करती है और उसकी योनि रोगरहित है तो चन्द्रतुल्य मुखवाले सुन्दर सन्तान का जन्म होता है। यह सन्तान १. पुरुदस्मः=(पुरुः बहुः दस्म उपक्षयो दुःखानां यस्मात्-द०) माता-पिता के सब कष्टों का निवारण करनेवाला होता है। वस्तुतः इसीलिए इसे पुत्र='पुनाति त्रायते' पवित्र बनाता है और त्राण करता है' इस नाम से कहते हैं। २. विषुरूपः=यह अत्यन्त सुन्दर रूपवाला होता है। वस्तुतः यदि गर्भ का धारण प्रसन्नतापूर्वक (सुप्रीतम् मन्त्र २६) किया जाए और उसके सुभरण (सुभृतं मन्त्र २६) का ध्यान किया जाए तो सन्तान सुन्दर रूपवाला क्यों न होगा? ३. इन्दुः=यह सन्तान तो चन्द्रतुल्य होता है अथवा (इन्दु to be powerful) बड़ा शक्तिशाली होता है। ४. अन्तः=यह गर्भ के अन्दर ही महिमानम्=महिमा को आनञ्ज=प्राप्त होता है (अञ्ज=गति)। गर्भावस्था में ही माता ने इसे बड़ा सुन्दर बनाया है। ५. धीरः=यह धीर है, ज्ञानी है। ६. ऐसा सन्तान जब बड़ा होता है तब इसके कारण भुवना=(भवन्ति भूतानि येषां तानि गृहाणि-द०) प्राणियों के निवास-स्थानभूत घर, एकपदीम्='ओम्' इस एक पद का व्याख्यान करनेवाली, द्विपदीम्=अभ्युदय व निःश्रेयस को प्राप्त करानेवाली, त्रिपदीम्=वाणी, मन व शरीर के सुखों को प्राप्त करानेवाली, चतुष्पदीम्='धर्मार्थ-काममोक्ष' इन चारों पुरुषार्थों की प्रतिपादिका तथा अष्टापदीम्=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र इन चारों वर्णों व ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वनस्थ व संन्यास इन चारों आश्रमों का वर्णन

करनेवाली वेदवाणी के अनु=अनुसार प्रथन्ताम्=विस्तार को प्राप्त हों, अर्थात् ऐसे सन्तानों के कारण घरों की उन्नति-ही-उन्नति हो। ८. स्वाहा=इसके लिए-ऐसी सन्तानों के निर्माण के लिए हम स्वार्थत्याग करें। स्वार्थत्याग से ही उत्तम सन्तान प्राप्त होगी।

भावार्थ—घर में सन्तान आये तो ऐसा अनुभव हो कि चन्द्रोदय हो गया है। वेदवाणी के अनुसार जीवन बनाने की हमारी प्रवृत्ति बड़े।

ऋषिः—गोतमः। देवता—दम्पती। छन्दः—आर्षीगायत्री। स्वरः—षड्जः॥

मरुतः

मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवो विमहसः । स सुगोपातमो जनः॥३१॥

१. 'पिछले मन्त्र के वर्णन के अनुसार हमारे सन्तान सुन्दर, श्रेष्ठ बनें' इसके लिए आवश्यक है कि माता-पिता प्राणसाधना करनेवाले हों, क्योंकि इस प्राणसाधना से इन्द्रियों के दोष दूर होकर हम प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'गो-तम'=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले बनते हैं। इन गोतमों की ही सन्तानें उत्तम होती हैं। २. अतः मन्त्र में कहते हैं कि मरुतः=हे प्राणो! यस्य=जिसके क्षये=घर में हि=निश्चय से पाथ=रक्षा करते हो सः=वह जनः=अपनी शक्तियों का विकास करनेवाला मनुष्य सुगोपा-तमः=उत्तमता से इन्द्रियों की रक्षा करनेवालों में श्रेष्ठ बनता है। ३. हे प्राणो! आप दिवः=प्रकाशमय हो। आपकी साधना से बुद्धि सूक्ष्म होकर कठिन-से-कठिन विषय का ग्रहण करनेवाली होती है। विमहसः=आप विशिष्ट तेजवाले हो। यह प्राणसाधना मनुष्य को तेजस्वी बनाती है। एवं, प्राणसाधना के दो लाभ हैं—(क) मस्तिष्क ज्ञानाग्नि से दीप्त बनता है। (ख) शरीर तेजस्वी होता है। इस प्रकार के माता-पिता की सन्तान निश्चय से उत्तम होगी। इसी कारण उत्तम सन्तान के प्रतिपादक गत मन्त्र के बाद यह प्राणसाधनावाला मन्त्र आया है। दूसरे शब्दों में इस साधना के होने पर सन्तान एक प्रकार से इन मरुतों के ही पुत्र होंगे, मारुति बनेंगे।

भावार्थ—हम प्राणसाधना करेंगे तो हमारे सन्तान मारुति=हनुमान् के समान प्रभु के सेवक बनेंगे। हमारे सन्तानों की इन्द्रियाँ बड़ी शुद्ध होंगी।

ऋषिः—मेधातिथिः। देवता—दम्पती। छन्दः—आर्षीगायत्री। स्वरः—षड्जः॥

महनीय माता-पिता

मही द्यौः पृथिवी च नऽद्रुमं यज्ञं मिमिक्षताम् । पिपृतां नो भरीमभिः॥३२॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्राणसाधना करनेवाला और मही=(मह पूजायाम्) प्रभु उपासक द्यौः=प्रकाशमय जीवनवाला पिता (द्यौष्पिता) पृथिवी च=और शक्तियों का विस्तार करनेवाली माता (पृथिवी माता) ये दोनों नः=हमारे इमम्=इस यज्ञम्=उत्तम गुणों से मेल करने योग्य सन्तान को मिमिक्षताम्=ज्ञान व गुणों से सिक्त कर दें। माता-पिता को चाहिए कि (क) अपने जीवनो को प्रकाशमय व शक्ति-विस्तारवाला बनाएँ। (ख) दोनों प्रभु के पुजारी हों। (ग) सन्तान को प्रभु की धरोहर समझें, यह समझें कि इन्हें उत्तम बनाने के लिए प्रभु ने इन्हें सौंपा है। यह सोचकर (घ) ये सन्तान को ज्ञान व दिव्य गुणों से युक्त करने के लिए प्रयत्नशील हों, सन्तान को ये 'यज्ञ' समझें (यज्ञ सङ्गतीकरण) इसे उन्हें उत्तम गुणों से सङ्गत करना है। ३. प्रभु कहते हैं कि नः=हमारी इस सन्तान को भरीमभिः=भरण व पोषण के द्वारा पिपृताम्=माता-पिता तुम दोनों पालित व पूरित करो। इसके शरीर को रोगों से सुरक्षित करो और मन की किन्हीं भी न्यूनताओं को दूर करके इसके मन को पूरित

करो। इस बालक के शरीर में रोग न आएँ, मनो में वासनाएँ न आ जाएँ। ३. इस प्रकार नीरोग व निर्मल हृदय बनकर यह इस संसार में (मेधया अतति) समझदारी से चलनेवाला 'मेधातिथि' बने। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—माता-पिता प्रकाशमय जीवनवाले तथा विस्तृत शक्तियोंवाले हों। ये सन्तानों को उत्तम ज्ञान व गुणों से सङ्गत करें। ये इसके शरीर को नीरोग बनाएँ तथा मन को दिव्य गुणों से पूरित करें।

ऋषिः—गोतमः। देवता—गृहपतयः। छन्दः—आर्ष्यनुष्टुप्^क, आर्ष्युष्णिक्^१। स्वरः—गान्धारः^क, ऋषभः^१।
रथाधिष्ठान

ॐ आतिष्ठ वृत्रहृत्रथं युक्ता ते ब्रह्मणा हरी। अर्वाचीनःसु ते मनो
ग्रावा कृणोतु वग्नुना। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिनःऽएष ते
योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिनैः॥३३॥

१. माता-पिता 'गत मन्त्र की भावना के अनुसार बन सकें' उसके लिए प्रभु जीव को निर्देश करते हैं कि—हे वृत्रहन्=कामवासना को नष्ट करनेवाले जीव! तू रथम्=इस शरीररूप रथ पर आतिष्ठ=अधिष्ठित हो। तू 'रथी' है, अतः वास्तव में ही 'रथी' बन। कहीं तू सो जाए और तेरा जीवन सारथि की दया पर ही निर्भर रह जाए। नहीं! तू जाग और सारथि को इस रथ को उद्दिष्ट स्थल पर पहुँचाने के लिए निर्देश दे। २. ते=तेरे इस रथ में ब्रह्मणा=प्रभु के द्वारा हरी=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़े युक्ता=जोते गये हैं। अथवा ब्रह्मणा=ज्ञानपूर्वक बड़ी समझदारी से वे घोड़े जोते गये हैं। ३. ग्रावा=(गृ) वह हृदयस्थरूप से वेदज्ञान को देनेवाला परमात्मा ते मनः=तेरे मन को वग्नुना=इस वेदवाणी के द्वारा अर्वाचीनम्=अन्दर ही गति करनेवाला और विषयों में न भटकनेवाला सुकृणोतु=उत्तमता से करे। हमारा मन विषयों में भटकने की बजाय अन्दर ही स्थित हो और हृदयस्थ प्रभु की वाणी को सुननेवाला बने। ४. इस प्रकार उपयामगृहीतः असि=प्रभु की उपासना के द्वारा तू यम-नियमों से गृहीत है। ५. त्वा=तुझे मैंने इस संसार में इन्द्राय=इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनने के लिए ही भेजा है। षोडशिनैः=इन इन्द्रियों को वश में करके तूने अपने जीवन में सोलह कलाओं को धारण करना है। ६. एषः=यह शरीर ही ते=तेरा योनिः=घर है। इसमें रहते हुए तूने ऊपर उठना है। इन्द्राय त्वा षोडशिनैः=तुझे सोलह कलाओं से पूर्ण इन्द्र बनने के लिए ही यह शरीर दिया गया है। ७. सोलह कलाएँ प्रश्नोपनिषद् के अनुसार ये हैं—प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, ज्योति, जल, पृथिवी, इन्द्रियाँ (१०), मन, अन्न, वीर्य तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम।

भावार्थ—'गोतम' वह बनता है जो इस शरीररूपी रथ पर इन्द्र बनकर अधिष्ठित होता है और अन्तःस्थित प्रभु की वाणी को सुनता है। जितेन्द्रिय बनकर जीव सोलह कलाओं को धारण करता है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—गृहपतयः। छन्दः—विराडार्ष्यनुष्टुप्^क, आर्ष्युष्णिक्^१। स्वरः—गान्धारः^क, ऋषभः^१।
अश्वयोजन

ॐ युक्ष्वा हि केशिना हरी वृषणा कक्ष्यप्रा। अथा नऽइन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिं चर
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिनःऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिनैः॥३४॥

गत मन्त्र का इन्द्र यहाँ रथ में अश्वों का योजन करता है। प्रभु कहते हैं कि १. हि=निश्चय से युक्ष्व =तू इन इन्द्रियरूप घोड़ों को रथ में जोत। ये सदा चरते ही रह गये तो यात्रा कैसे पूरी होगी? चाहिए तो यह कि ये जुते-जुते ही बीच में थोड़ा खा-पी लें। २. कैसे घोड़ों का योजन? (क) केशिना=(केशाः रश्मयः तेजोराशयः तद्वन्तौ) ये घोड़े तेजोराशि-सम्पन्न हों, ज्ञानेन्द्रियरूप घोड़े खूब प्रकाशमय-ज्ञान के प्रकाशवाले हों तो कर्मेन्द्रियरूप घोड़े (ख) वृषणा=खूब शक्तिशाली हों। दोनों ही (ग) हरी=उद्दिष्ट स्थान पर ले-चलनेवाले हों तथा (घ) कक्ष्यप्रा=(कक्षे भवं कक्ष्यं, मध्यबन्धनं प्रातः पूरयतः) ये घोड़े मध्यबन्धन को भर लेनेवाले हों, अर्थात् खूब पुष्ट अवयवोंवाले हों, निर्बल न हों। इन्द्रियों को निर्बल करके वश में करने में क्या वीरता है, क्योंकि घोड़े ही निर्बल हो गये तो यात्रा पूरी कैसे होगी? ३. अथ=अब, अर्थात् पुष्ट घोड़ों को रथ में जोतकर इन्द्र=हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू नः=हमारी गिराम्=वाणियों को उपश्रुतिम्=समीपता से श्रवण चर=कर। इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनकर मनुष्य प्रभु का उपासक हो और अन्तःस्थ प्रभु की वाणी को सुने। ४. उपयामगृहीतः असि=तू प्रभु की उपासना द्वारा यम-नियमों से स्वीकृत जीवनवाला है। इन्द्राय त्वा षोडशिनै=तुझे इस संसार में सोलह कलाओं से युक्त इन्द्र बनने के लिए भेजा गया है। एषः ते योनिः=यह शरीर ही तेरा घर है। तूने इधर-उधर भटकना नहीं। इन्द्राय त्वा षोडशिनै=षोडशी इन्द्र बनने के लिए तुझे यह जीवन दिया गया है। इसे व्यर्थ समाप्त मत कर देना।

भावार्थ—हम इन्द्रियों को इस शरीररूपी रथ के घोड़े समझें। उन्हें रथ में जोतकर यात्रा को पूरा करें। इसी जीवन में हमने संयमी बनकर षोडशी बनना है। 'इस प्रकार हमारी इच्छाएँ मधुर बनी रहीं' तो हम मन्त्र के ऋषि 'मधुच्छन्दा' होंगे।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—गृहपतयः। **छन्दः**—आर्ष्यनुष्टुप्^क, विराडार्ष्युष्णिक्^१। **स्वरः**—गान्धार^क, ऋषभः^१।

स्तुति+यज्ञ

॥ इन्द्रमिन्द्रिं वहतोऽप्रतिधृष्टशवसम्। ऋषीणां च स्तुतीरुप यज्ञं च मानुषाणाम् ।

॥ उपयामगृहीतोऽसिन्द्राय त्वा षोडशिनैऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिनैः॥ ३५ ॥

१. गत मन्त्र के अनुसार इन्द्रियरूपी घोड़ों को शरीररूप रथ में जोतकर यात्रा में आगे बढ़नेवाला व्यक्ति 'गोतम' = प्रशस्तेन्द्रिय बनता है। इस इन्द्रम् = इन्द्रियों के अधिष्ठाता और अतएव प्रशस्तेन्द्रिय गोतम को इत् = निश्चय से हरी = ये ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियरूप घोड़े वहतः = उद्दिष्ट स्थल पर पहुँचानेवाले होते हैं। अप्रतिधृष्टशवसम् = जितेन्द्रियता के कारण ही यह न धर्षणीय बलवाला है। २. ये घोड़े ले-जाते हैं। कहाँ? ऋषीणां च स्तुतीः उप = तत्त्वद्रष्टाओं के स्तवनों के समीप तथा मानुषाणाम् = मानवहित में तत्पर लोगों के यज्ञम् उप = यज्ञ के समीप, अर्थात् यह जितेन्द्रिय पुरुष ज्ञानियों के समान स्तुति करनेवाला बनता है। इसके जीवन में भक्ति और यज्ञ का समन्वय चलता है। ३. प्रभु अपने इस भक्त से कहते हैं कि तू उपयामगृहीतः असि = मेरे समीप रहकर यम-नियमों को स्वीकार करनेवाला बना है। इन्द्राय त्वा = मैंने तुझे इस संसार में इन्द्र बनने के लिए भेजा है। षोडशिनै = सोलह कला सम्पूर्ण बनने के लिए भेजा है। एषः ते योनिः = यह शरीर ही तेरा घर है। इस घर में रहकर इन्द्राय त्वा षोडशिनै = तुझे जितेन्द्रिय व सोलह कलाओं से युक्त बनना है।

भावार्थ—मेरा जीवन 'इन्द्र' का जीवन हो, जितेन्द्रिय बनकर मैं ऋषियों के समान स्तवन करनेवाला बनूँ और मानवहितकारी यज्ञों में प्रवृत्त होऊँ।

ऋषिः—विवस्वान्। **देवता**—परमेश्वरः। **छन्दः**—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

स्तुति का स्वरूप

यस्मान्न जातः परोऽन्योऽस्ति यऽआविवेश भुवनानि विश्वा ।

प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींश्चि सचते स षोडशी॥३६॥

गत मन्त्र में स्तुति करने का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में स्तुति का स्वरूप प्रतिपादित करते हैं। १. **यस्मात्** = जिससे अधिक **जातः** = प्रसिद्ध व **परः** = उत्तम **अन्यः** = दूसरा न **अस्ति** = नहीं है। प्रकृति व जीव भी अनादि सत्ताएँ हैं, परन्तु परमात्मा के समान न तो वे प्रसिद्ध हैं और न ही उत्कृष्ट। २. यह परमात्मा सत्ता वह है **यः** = जो **विश्वा** = सब **भुवनानि** = भुवनों में, लोक-लोकान्तरों में, **आविवेश** = प्रविष्ट हो रही है। कोई भी पिण्ड उस सत्ता की व्याप्ति के बिना नहीं है। वस्तुतः अन्य सब पिण्ड उसी सत्ता से विभूतिमत्, श्रीमत् व ऊर्जित हो रहे हैं। ३. **प्रजापतिः** = वे प्रभु ही सब प्रजाओं के पति हैं, सबके अन्दर व्याप्त होकर उनकी रक्षा कर रहे हैं। **प्रजया संरराणः** = प्रजा के साथ सम्यक् रमण करनेवाले हैं। प्रजा की रक्षा वही कर सकता है जो प्रजा के साथ रमण करे। ४. इस प्रजा के कल्याण के लिए ही वे प्रभु **त्रीणि ज्योतींश्चि सचते** = तीन ज्योतियों को धारण करते हैं। द्युलोक का सूर्य, अन्तरिक्षलोक का वायु व विद्युत् और पार्थिवलोक की अग्नि प्रभु की दीप्ति से ही दीप्तिवाले हो रहे हैं। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। ४. प्राकृतिक पिण्डों व देवों को तो वे प्रभु देवत्व (ज्योति) प्राप्त करा ही रहे हैं, इसके साथ **सः** = वे प्रभु ही **षोडशी** = सोलह कलाओं के भी स्वामी हैं। प्रभु की उपासना से ही जीव इन सोलह कलाओं को प्राप्त किया करता है।

भावार्थ—प्रभु सर्वोपरि सत्ता हैं। सब देवों को देवत्व व सब प्राणियों को सोलह कलाएँ वे प्रभु ही प्राप्त कराया करते हैं। इस प्रकार प्रभु-स्तवन करनेवाला 'विवस्वान्'—सूर्य के समान अन्धकार को दूर करके प्रकाशवाला बनता है।

ऋषिः—विवस्वान्। **देवता**—सम्राट्माण्डलिकौ राजानौ। **छन्दः**—साम्नीत्रिष्टुप्^क, विराडार्चीत्रिष्टुप्^ल।

स्वरः—धैवतः॥

स्तुति के लिए सौम्य भोजन

क इन्द्रश्च सम्राट् वरुणश्च राजा तौ ते भक्षं चक्रतुरग्रं एतम् ।

ल तयोर्हमनु भक्षं भक्षयामि वाग्देवी जुषाणा सोमस्य तृप्यतु सह प्राणेन स्वाहा॥३७॥

१. गत मन्त्र में प्रभु-स्तवन था। 'यह प्रभु-स्तवन सतत चलता ही रहे' इसके लिए सात्त्विक भोजन नितान्त आवश्यक है, अतः उसका उल्लेख करते हैं। **इन्द्रः च सम्राट्** = मैं जितेन्द्रिय और देदीप्यमान बनूँगा तथा **वरुणः च राजा** = द्वेष का निवारण करनेवाला और श्रेष्ठ व्यवस्थित जीवनवाला बनूँगा, **तौ** = ये दो बातें **अग्रे** = सर्वप्रथम **ते** = तेरे **एतम्** = इस **भक्षम्** = भोजन को **चक्रतुः** = करती हैं। **तयोः** = इन दोनों बातों के **अनु** = अनुसार **अहम्** = मैं **भक्षम्** = भोजन को **भक्षयामि** = खाता हूँ। मेरा भोजन सदा इन दो बातों का विचार करके होता है कि मैं (क) जितेन्द्रिय व देदीप्यमान = तेजस्वी बन सकूँ तथा (ख) निर्द्वेष = श्रेष्ठ मनवाला, अत्यन्त व्यवस्थित जीवनवाला हो सकूँ। २. **वाग्देवी** = यह मेरी 'देवी'—प्रभु-स्तवन करनेवाली जिह्वा

सोमस्य जुषाणा =सोम का प्रीतिपूर्वक सेवन करती हुई, अर्थात् सौम्य भोजनों को ही आनन्दपूर्वक खाती हुई **तृप्यतु** =तृप्ति का अनुभव करे। इन्हीं भोजनों में इसे आनन्द आये। इसकी रुचि ही सौम्य भोजनों की बन जाए। ३. **सह प्राणेन**=यह प्राणशक्ति से सम्पन्न हो। वस्तुतः वैश्वानराग्नि (जाठराग्नि) प्राणापान समायुक्त होकर ही अन्न का पाचन करती है। सौम्य भोजनों को करके मैं अधिक प्राणशक्ति-सम्पन्न बनता हूँ। ४. **स्वाहा**=इस सबके लिए मैं स्वार्थ का त्याग करूँ। स्वाद को छोड़नेवाला बनूँ। स्वाद को छोड़कर ही मैं सात्त्विक सौम्य भोजनों को करनेवाला बनता हूँ।

भावार्थ—भोजन का दृष्टिकोण 'जितेन्द्रियता, तेजस्विता, मानसपवित्रता व व्यवस्थित जीवन' हो। हम सौम्य भोजन करके प्राणशक्ति-सम्पन्न बनें। स्वाद को छोड़ें। यह ध्यान रखें कि आग्नेय पदार्थ प्रभु ने औषधरूप में बरतने के लिए बनाये हैं। सात्त्विक भोजन करके मैं ज्ञान की दीप्तिवाला 'विवस्वान्' बनूँगा।

ऋषिः—वैखानसः। **देवता**—राजादयो गृहपतयः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिपाद्गायत्री^३, स्वराडार्च्यनुष्टुप्^४
भुरिगार्च्यनुष्टुप्^५। **स्वरः**—षड्जः^३, गान्धारः^{४,५}।

वर्चस्वान्

^३अग्ने पवस्व स्वपाऽअस्मे वर्चः सुवीर्यम् । दधद्रयिं मयि पोषम् ।

^४उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा वर्चसऽएष ते योनिर्ग्नये त्वा वर्चसे ।

^५अग्ने वर्चस्विन्वर्चस्वाँस्त्वं देवेष्वसि वर्चस्वानहं मनुष्येषु भूयासम् ॥३८॥

१. गत मन्त्र के अनुसार 'सात्त्विक सौम्य' भोजन करनेवाला यह विवस्वान्=ज्ञान के प्रकाशवाला सब बुराइयों को समूल नष्ट कर डालता है। बुराइयों के वृक्ष को खाँदकर उखाड़ डालने से यह 'वैखानस' कहलाता है। यह वैखानस प्रार्थना करता है कि—अग्ने=हे अग्रगति के साधक प्रभो! **पवस्व**=आप मेरे जीवन को पवित्र कर दीजिए। **स्वपाः**=(सु अपस्) आप ही सब उत्तम कार्यों को करनेवाले हैं। २. **अस्मे**=हमारे लिए **वर्चः**=वृत्त (चरित्र) और अध्ययन-सम्पत्ति को, सदाचार व शिक्षा को तथा **सुवीर्यम्**=उत्तम वीर्य को दधत्=आप धारण करनेवाले होओ। ३. **रयिम्**=दान देने योग्य धन को तथा **मयि**=मुझमें **पोषम्**=पोषण को प्राप्त कीजिए। आपकी कृपा से मैं धन को भी प्राप्त करूँ और पोषण को भी। यदि 'पोषम्' को 'रयिं' का विशेषण कर दें तो अर्थ इस प्रकार होगा कि मैं पोषण के लिए आवश्यक धन को प्राप्त करनेवाला बनूँ। ४. प्रभु इस वैखानस से कहते हैं कि **उपयामगृहीतः** **असि**=तूने उपासना द्वारा यम-नियमों को स्वीकार किया है। **अग्नये त्वा**=तुझे इस संसार में अग्नि बनने के लिए भेजा है। **वर्चसे**=वृत्ताध्ययन-सम्पत्ति के लिए भेजा है। तूने उन्नतिशील, सदाचारी, शिक्षित और ज्ञानी बनना है। **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरा घर है। **अग्नये त्वा वर्चसे**=अग्रगति के लिए तथा वृत्ताध्ययन-सम्पत्ति के अर्जन के लिए ही तूने जीवन-यापन करना है। ५. प्रभु की इस प्रेरणा को सुनकर 'वैखानस' प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **अग्ने**=सारे ब्रह्माण्ड की अग्रगति के साधक! **वर्चस्विन्**=वृत्ताध्ययन-सम्पत्ति-सम्पन्न प्रभो! आप ही आदर्शरूप में अग्नि हो, आप ही वृत्त व विद्या के आदर्श हो। **त्वम्**=आप **देवेषु**=इन देवों में **वर्चस्वान्**=वर्चस्वाले **असि**=हैं। वस्तुतः इन देवों में आपका ही वर्चस्व दीप्त हो रहा है। **अहम्**=मैं **मनुष्येषु**=मनुष्यों में **वर्चस्वान्**=वर्चस्वाला **भूयासम्**=बनूँ। मनुष्यों में मैं आपका प्रतीक बनने का प्रयत्न करूँ, जैसे देवों में आप, जैसे मनुष्यों में मैं।

भावार्थ—हम उस अग्नि के समान 'वर्चस्वान्' बनें।

ऋषिः—वैखानसः। देवता—राजादयो गृहस्थाः। छन्दः—आर्षीगायत्री^३, ^क, आर्च्युष्णिक^१।

स्वरः—षड्जः^३, ^क, ऋषभः^१।

ओजिष्ठ

^३उत्तिष्ठन्नोजसा सह पीत्वी शिप्रेऽअवेपयः। सोममिन्द्र चमू सुतम्।

^कउपयामगृहीतोऽसिन्द्राय त्वौजसऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वौजसे।

^१इन्द्रौजिष्ठौजिष्ठस्त्वं देवेष्वस्योजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासम्॥३९॥

१. गत मन्त्र का 'वर्चस्वान्' प्रस्तुत मन्त्र में 'ओजिष्ठ' बनता है। यह सोमपान करता है और ओजस्वी बनकर शत्रुओं के जबड़ों को हिला देता है। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि हे इन्द्र=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव ! चमू सुतम्=द्यावापृथिवी, अर्थात् मस्तिष्क व शरीर के निमित्त पैदा किये गये सोमम्=वीर्यशक्ति को, सोम को पीत्वी=पीकर ओजसा सह=ओज के साथ उत्तिष्ठन्=ऊपर स्थित होता हुआ, अर्थात् सर्वतोन्मुखी उन्नति करता हुआ तू शिप्रे=शत्रुओं के जबड़ों को अवेपयः=कम्पित कर देता है, अर्थात् इस सोम के मद में तू कामादि सब शत्रुओं को शान्त कर देता है। २. इस वैखानस से प्रभु कहते हैं कि उपयामगृहीतः असि=तू उपासना द्वारा यम-नियमों का स्वीकार करनेवाला है। इन्द्राय त्वा ओजसे=तुझे शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला इन्द्र बनने के लिए मैंने भेजा है, ओजस्वी बनने के लिए। एषः ते योनिः=यह शरीर ही तेरा घर है। इन्द्राय त्वा ओजसे=इसमें रहते हुए तूने इन्द्र और ओजस्वी बनना है। ३. इस प्रभु के निर्देश को सुनकर वैखानस आराधना करता है कि हे इन्द्र=प्रभो! आप ही सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले हो, त्वम्=आप देवेषु=सब देवों में ओजिष्ठः=अधिक-से-अधिक शक्तिशाली हैं, आपके सम्पर्क में रहता हुआ अहम्=मैं मनुष्येषु=मनुष्यों में ओजिष्ठः=अधिक शक्तिशाली भूयासम्=बन पाऊँ।

भावार्थ—हम उस 'इन्द्र' के अनुसार ओजिष्ठ बनें।

ऋषिः—प्रस्कण्वः। देवता—राजादयो गृहपतयः। छन्दः—आर्षीगायत्री^क,^३, स्वराडार्षीगायत्री^१। स्वरः—षड्जः॥

भ्राजिष्ठ

^३अदृश्रमस्य केतवो वि रश्मयो जनाँऽअनु। भ्राजन्तो अग्नयो यथा।

^कउपयामगृहीतोऽसि सूर्याय त्वा भ्राजायैष ते योनिः सूर्याय त्वा भ्राजाय।

^१सूर्यं भ्राजिष्ठं भ्राजिष्ठस्त्वं देवेष्वसि भ्राजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासम्॥४०॥

१. प्रभु के समान ओजिष्ठ बनता हुआ यह चाहता है कि जनान् अनु=अपनी शक्तियों का विकास करनेवाले लोगों को लक्ष्य करके प्राप्त होनेवाले अस्य=इस प्रभु के केतवः=जो प्रज्ञान हैं तथा वि रश्मयः=विशिष्ट रश्मियाँ हैं उनको अदृश्रम्=देखूँ। इस प्रकार देखूँ यथा=जैसे भ्राजन्तः=ज्ञान की ज्योति से दीप्त पुरुष और अग्नयः=उन्नतिशील पुरुष देखा करते हैं। इन केतुओं और रश्मियों को सदा देखनेवाला मैं अपने इस जीवन में 'भ्राजमान' बन सकूँगा। २. प्रभु इससे कहते हैं कि उपयामगृहीतः असि=तू सुनियमों से स्वीकृत जीवनवाला है सूर्याय त्वा भ्राजाय=तुझे मैंने इस संसार में सूर्य बनने के लिए, चमकने के लिए भेजा है। 'पश्य सूर्यस्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्'=यह सूर्य चलता हुआ थकता नहीं, इसी से चमकता है। तूने भी क्रियाशील रहना है और इस सूर्य की भाँति

चमकना है। एषः ते योनिः=यह शरीर ही तेरा घर है। सूर्याय त्वा भ्राजाय=तुझे सूर्य बनने के लिए तथा चमकने के लिए ही भेजा गया है। ३. अब यह प्रस्कण्व=मेधावी पुरुष प्रभु से प्रार्थना करता है कि सूर्य=हे प्रभो! स्वाभाविकी क्रियावाले होते हुए आप सारे ब्रह्माण्ड को गति दे रहे हैं। सब लोगों को आप ही कर्मों में प्रेरित कर रहे हैं। भ्राजिष्ठ=हे सर्वतो दीप्तिमन् प्रभो ! त्वम्=आप ही देवेषु=देवों में भ्राजिष्ठः असि=सर्वाधिक दीप्तिवाले हैं। अहम्=मैं भी मनुष्येषु=मनुष्यों में भ्राजिष्ठः=सर्वाधिक दीप्तिवाला भूयासम्=होऊँ।

भावार्थ—हम 'सूर्य' की भाँति भ्राजिष्ठ बनें।

ऋषिः—प्रस्कण्वः। देवता—सूर्यः। छन्दः—निचृदार्षीगायत्री ^१, स्वराडार्षीगायत्री ^२। स्वरः—षड्जः॥

'वर्चस्वान्, ओजिष्ठ व भ्राजिष्ठ' बनने का साधन

ॐ उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्यम् ।

ॐ उपयामगृहीतो ऽसि सूर्याय त्वा भ्राजायैष ते योनिः सूर्याय त्वा भ्राजाय ॥४१॥

१. गत मन्त्रों में 'वर्चस्वान्, ओजिष्ठ व भ्राजिष्ठ' बनने की प्रेरणा दी गई है। प्रस्तुत मन्त्र में वैसा बनने का साधन बताते हैं। उत् उ=(उत्=out, बाहर) मनुष्य वर्चस्वान् आदि बन सकता है, परन्तु प्रकृति से ऊपर उठकर ही। २. जब प्रकृति से ऊपर उठकर हम उस प्रभु की ओर झुकते हैं तभी भोगों से क्षीणशक्ति न होने के कारण हम अपने को वर्चस्वी बना पाते हैं, अतः केतवः=ज्ञानी लोग त्यम्=उस जातवेदसम् =प्रत्येक पदार्थ में वर्तमान देवम्=दिव्य गुणों के पुञ्ज अथवा ज्ञान से दीप्त तथा हमारे हृदयों को ज्ञान से द्योतित करनेवाले सूर्यम्=सदा उत्तम कर्मों में प्रेरित करनेवाले प्रभु को वहन्ति=अपने हृदयों में धारण करते हैं। ३. इस धारण के द्वारा वे विश्वाय दृशे=सब लोकों के देखनेवाले बनते हैं (दृश् to look after)। जैसे माता बच्चे का ध्यान करती है इसी प्रकार प्रभु को हृदय में धारण करनेवाले ये सब लोगों का ध्यान करते हैं। ४. प्रभु कहते हैं उपयामगृहीतः असि=तेरा जीवन सुनियमों से स्वीकृत है। सूर्याय त्वा=तुझे इस संसार में सूर्य बनने के लिए भेजा है भ्राजाय=सूर्य की भाँति चमकने के लिए। एषः ते योनिः=यह शरीर ही तेरा घर है। सूर्याय त्वा भ्राजाय =सूर्य बनने के लिए तुझे भेजा गया है, चमकने के लिए। यह सूर्य बनना व सूर्य के समान चमकना तभी हो सकता है जब मनुष्य उत्=प्रकृति से कुछ ऊपर उठे।

भावार्थ—हम प्राकृतिक भोगों से ऊपर उठें, प्रभु को हृदय में धारण करें, सर्वहित की भावना से ओत-प्रोत हों, जीवन संयमी हो और हम सूर्य की भाँति चमकनेवाले बनें।

ऋषिः—कुसुरुविन्दुः। देवता—पत्नी। छन्दः—स्वराड्ब्राह्म्युष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

कलश का आघ्राण

आजिघ्न कलशं मह्या त्वा विशन्त्विन्दवः । पुनरूर्जा निर्वर्त्तस्व सा नः

सहस्रं धुक्ष्वोरुधारा पयस्वती पुनर्माविशताद्वयिः॥४२॥

१. पिछले मन्त्रों में 'षोडशी' शब्द का प्रयोग कई बार हुआ है। प्रभु षोडशी इसलिए हैं कि वे सोलह कलाओं के स्वामी हैं और जीव षोडशी इसलिए है कि उसने इन सोलह कलाओं को धारण करना है। इन सोलह कलाओं का मूलस्थान प्रभु 'कल-श' कहलाते हैं 'कलाः शेरते अस्मिन्'। पति पत्नी से कहता है कि तू कलशम्=इन कलाओं के आधारभूत प्रभु की आजिघ्न=चारों ओर गन्ध लेने का प्रयत्न कर। तुझे प्रत्येक पदार्थ में प्रभु

की महिमा का दर्शन हो। क्या दूध में, क्या फलों में, क्या शाकों में और क्या सन्तान के शरीर में—तुझे सर्वत्र प्रभु की महिमा दिखे। २. इस प्रभु की महिमा को स्मरण करती हुई तू मही=(मह पूजायाम्) उस प्रभु की उपासिका बन। ३. इस उपासना से त्वा=तुझमें इन्द्रवः=शक्ति के कण अथवा ऐश्वर्य आविशन्तु=प्राप्त हों। प्रभु के सम्पर्क में आने से प्रभु की शक्ति तो प्राप्त होगी ही। ४. इस प्रकार पुनः=फिर ऊर्जा=शक्ति से निवर्तस्व='नि' निश्चयपूर्वक वर्तस्व=वर्तमान हो, अर्थात् प्रभु-उपासना के द्वारा तू फिर से अपने को शक्ति से भर ले। ५. शक्ति से परिपूर्ण हुई-हुई सा=वह तू नः=हमें सहस्वम्=आमोद-प्रमोद के साथ (स+हस्), बिना किसी प्रकार के क्रोध के, खेल-खेल में ही धुक्ष्व=प्रपूरित कर, घर के सब सभ्यों में अच्छाइयों को भरने का प्रयत्न कर। ६. उरु धारा=(उर्वी धारा यस्य, धारा=वाक्) ज्ञान की वाणियों को खूब प्राप्त करनेवाली, स्वाध्याय के द्वारा निरन्तर अपने ज्ञान को बढ़ानेवाली पयस्वती=सर्वतः प्रशस्त आप्यायनवाली—स्वयं अपने शरीर, मानस व बौद्धिक विकास को करनेवाली बनकर तू सन्तानों के अन्दर भी उत्तमताओं को भरनेवाली बन। ७. पुनः=फिर, अर्थात् उपर्युक्त बातों के होने पर मा=मुझे रयिः=धन आविशतात् =समन्ततः प्राप्त हो। उत्तम पत्नी जब घर के कार्य अच्छी प्रकार सँभाल लेती है तब पति निश्चिन्तता से गृहस्थ व्यय के लिए धनार्जन में लगता है।

भावार्थ—हम सर्वत्र प्रभु की महिमा देखें, प्रभु के उपासक बनें और प्रभु की शक्ति से अपने को शक्ति-सम्पन्न करें। प्रभु से अपना मेल करनेवाला व्यक्ति 'कुसुरु' है (कुस् to embrace) इस मेल से शक्ति-लाभ करनेवाला यह 'विन्दु' (विन्दति=लभते) है। एवं, इसका नाम ही 'कुसुरुविन्दु' पड़ गया है।

ऋषिः—कुसुरुविन्दुः। **देवता**—पत्नी। **छन्दः**—आर्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

अध्या

इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिते सरस्वति महि विश्रुति।

एता तैऽअघ्ये नामानि देवेभ्यो मां सुकृतं ब्रूतात्॥४३॥

१. गत मन्त्र में मुख्य भावना प्रभु के सम्पर्क में आने की है। प्रभु के सम्पर्क में आनेवाला यह व्यक्ति प्रभु की वेदवाणी का अध्ययन करता है और कहता है कि हे अघ्ये=(अ हन् य) कभी नष्ट न करने योग्य, अर्थात् बिना विच्छेद के निरन्तर पढ़ने योग्य वेदवाणि! तू देवेभ्यः=विद्वानों के द्वारा मा=मेरे लिए सुकृतम् =पुण्य का ब्रूतात्=उपदेश कर, अर्थात् विद्वान् आचार्यों से हम इस वेद का उपदेश सुनें और अपने कर्तव्यों को जानें। २. हे वेदवाणि! तू इडे=उपासनीय है (ईड स्तुतौ=स्तोतुमर्हे—द० ईड्यते—म०) अथवा इडा=इ-ला=A law=तू जीवन का एक कानून (काण्ड) है। प्रभु ने मनुष्य को यह शरीर देते हुए यह वेदवाणी रूप जीवन का नियम भी दे दिया कि तूने इसके अनुसार अपना जीवन चलाना है। ३. रन्ते=यह वेदवाणी रमणीय है (रमयति इति) इस वेदवाणी में अत्यन्त सुन्दरता से कर्तव्यों व ज्ञानों का उपदेश दिया गया है। ४. हव्ये=यह हव्या है, उच्चारण के योग्य है। इसका नियम से पाठ करना भी पुण्य के लिए है। आचार्य के शब्दों में पाठ करनेवाले भी श्रेष्ठ हैं, अर्थज्ञ तो श्रेष्ठतर हैं और क्रिया में लानेवाले श्रेष्ठतम। ५. काम्ये=यह चाहने योग्य है। अथवा 'आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण, ब्रह्मवर्चस् व मोक्ष' आदि सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाली है।

६. इन सब कामनाओं को पूर्ण करने के कारण ही चन्द्रे=आह्लादित करनेवाली है। ७. ज्योते=दीप्तिमय है, सब ज्ञानों का प्रकाश करनेवाली है। ८. अदिते=ज्ञान के प्रकाश के द्वारा ही यह हमें न खण्डित करनेवाली है। हमारे शरीर, मन व बुद्धियों को उत्तम बनानेवाली है। ९. सरस्वति=यह ज्ञान के जलवाली है। १०. महि=हमारे जीवनो को महनीय बनानेवाली है। ११. विश्रुति=यह विविध ज्ञानों के श्रवणवाली है। इसमें सब विद्याओं का श्रवण होता है। १२. इस प्रकार हे अघ्न्ये=अहन्तव्य, सदा पठन के योग्य वेदवाणि! एता ते नामानि=ये उल्लिखित तेरे नाम हैं। तू विद्वानों के द्वारा हमें पुण्यों का उपदेश कर।

भावार्थ—वेदवाणी को 'अघ्न्या' जानकर हम उसका नित्य स्वाध्याय करें और अपने कर्तव्यों को जानकर पुण्य का आचरण करें। यह आचरण ही हमें 'कुसुरु'=प्रभु से मेलवाला व 'विन्दु'=मोक्षलाभ करनेवाला बनाएगा।

ऋषिः—शासः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्^क, स्वराडार्षीगायत्री^१। स्वरः—गान्धारः^क, षड्जः^१॥

पापों के साथ संग्राम

^कवि नऽइन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः। योऽअस्माँ२॥ऽअभिदासत्यधरं

गमया तमः।^१उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विमृधेऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा विमृधे॥४४॥

गत मन्त्र के अनुसार वेदवाणी के द्वारा अपने कर्तव्यों का आचरण करनेवाला संयमी पुरुष 'शास' आत्मशासन करनेवाला है। यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि १. इन्द्र=हे सब आसुरवृत्तियों के संहार करनेवाले प्रभो! नः=हमारे मृधः=काम-क्रोधादि आन्तर शत्रुओं को विजहि=विशेषरूप से नष्ट कर दीजिए। २. पृतन्यतः=हमारे साथ निरन्तर संग्राम करनेवाले इन वासनात्मक शत्रुओं को नीचा यच्छ=नीचा दिखानेवाले होओ। इनको पाँवों तले कुचल दीजिए। ३. यः अस्मान् अभिदासति=जो भी हमें दास बनाना चाहता है उसे अधरं तमः गमय=घोर अन्धकार में, पाताललोक में प्राप्त कराइए, अर्थात् हम वासनाओं के शिकार न हों, उनसे कुचले न जाएँ, वासनाओं के दास न बन जाएँ। ४. प्रभु इस 'शास' से कहते हैं कि उपयामगृहीतः असि=तू यम-नियमों से स्वीकृत जीवनवाला है। त्वा=तुझे इन्द्राय=इन्द्र बनने के लिए यहाँ भेजा है, शासन करनेवाला बनने के लिए, न कि दास बनने के लिए, विमृधे=शत्रुओं को पूर्ण रूप से नष्ट करने के लिए भेजा है। एषः ते योनिः=यह शरीर ही तेरा घर है, तूने इधर-उधर भटकना नहीं है। इन्द्राय त्वा विमृधे=तुझे इन्द्र बनना है, शत्रुओं को कुचलना है।

भावार्थ—मैं इन्द्र बनूँ। इन्द्रियों का शासन करनेवाला 'शास' होऊँ। वासनाओं को काबू करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—शासः। देवता—ईश्वरसभेशौ राजानौ। छन्दः—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्^क, विराडार्थनुष्टुप्^१।

स्वरः—धैवतः^क, गान्धारः^१॥

वाचस्पति विश्वकर्मा

^कवाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजेऽअद्या हुवेम। स नो विश्वानि हर्वनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा।^१उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्मणऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे॥४५॥

गत मन्त्र में 'शास' ने प्रभु की इस प्रेरणा को सुना था कि 'विमृधे' = शत्रुओं के कुचलने के लिए तुझे इस संसार में भेजा है। इन शत्रुओं से युद्ध करता हुआ 'शास' प्रभु से प्रार्थना करता है कि १. **वाचस्पतिम्** = वेदवाणी के पति, **विश्वकर्माणम्** = इस विश्व-संसाररूप कर्मवाले, अर्थात् संसार का निर्माण करनेवाले **मनोजुवम्** = हृदयस्थरूपेण प्रेरणा देनेवाले आपको ही **अद्य** = आज **ऊतये** = इन शत्रुओं के आक्रमण से अपनी रक्षा के लिए तथा **वाजे** = शक्ति-प्राप्ति के निमित्त **हुवेम** = पुकारते हैं। वस्तुतः हे प्रभो! आपसे ही शक्ति प्राप्त करके मैंने इन शत्रुओं को जीतना है। २. **सः** = वह प्रभु **नः** = हमारी **विश्वानि हवनानि जोषत्** = सब पुकारों को सुने। हम अपने को इस योग्य बनाएँ कि हमारी प्रार्थना प्रभु के द्वारा अवश्य सुनी जाए। ३. वे प्रभु ही **विश्वशम्भूः** = सब प्रकार की शान्तिप्रदाता हैं। प्रभुकृपा से ही शरीरों के रोग, मनों की चिन्ताएँ दूर होती हैं और बुद्धियों की भ्रान्तियाँ भी वे प्रभु ही दूर करते हैं। ४. वे प्रभु **अवसे** = हमारे रक्षण के लिए होते हैं और **साधुकर्मा** = हमारे माध्यम से सब उत्तम कर्मों को करनेवाले हैं। ५. प्रभु 'शास' से कहते हैं **उपयामगृहीतः असि** = तू उपासना द्वारा यम-नियमों का स्वीकार करनेवाला है। **इन्द्राय त्वा** = तुझे जितेन्द्रिय बनने के लिए यह शरीर दिया गया है **विश्वकर्मणे** = तूने सब कर्म निर्माणात्मक ही करने हैं। **एषः ते योनिः** = यह शरीर ही तेरा घर है। **इन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे** = तूने जितेन्द्रिय बनना है और इस विश्व में सदा निर्माणात्मक कार्यों का करनेवाला बनना है।

भावार्थ—प्रभु वेदवाणी के पति हैं। वे हमें हृदयस्थरूपेण प्रेरणा देते हैं। हम उनकी प्रेरणा को सुनें और तदनुसार कर्मों को करते हुए जीवन को शान्त बनाएँ।

ऋषिः—शासः। **देवता**—विश्वकर्मेन्द्रः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्*, विराडार्घ्यनुष्टुप्†।

स्वरः—धैवतः*, गान्धारः†॥

राजा

***विश्वकर्मन् हविषा वर्धनेन त्रातारमिन्द्रमकृणोरवध्यम्। तस्मै विशः समनमन्त पूर्वीर्यमुग्रो विह्व्यो यथासत्। †उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्मणऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे॥४६॥**

'लोगों के जीवन वेदानुकूल बनें' इसमें राजा का भी मुख्य हाथ होता है, अतः प्रस्तुत मन्त्र राजा के विषय में है। राजा को प्रस्तुत मन्त्र में 'अवध्य' कहा है। 'A king can do no wrong' यह अंग्रेजों का सिद्धान्त इसी भावना को व्यक्त कर रहा है। राष्ट्रपति पर अभियोग नहीं चलाया जा सकता। मन्त्र में कहते हैं कि—१. **विश्वकर्मन्** = हे सब कर्म करनेवाले प्रभो! **वर्धनेन** = प्रजा व राजा दोनों के वर्धन के कारणभूत **हविषा** = राष्ट्र-कर के द्वारा **त्रातारम्** = प्रजा की रक्षा करनेवाले **इन्द्रम्** = शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले राजा को **अवध्यम्** = न मारने योग्य **अकृणोः** = आपने बनाया है, अर्थात् (क) राजा को कर इस रूप में लेना चाहिए जिससे प्रजा व राजा दोनों का वर्धन हो। 'कर' अधिक मात्रा में न लिया जाए। अधिक कर लेने से प्रजा व राजा दोनों का ही उच्छेद हो जाता है। (ख) राजा को जितेन्द्रिय होना चाहिए। जितेन्द्रिय राजा ही शत्रुओं का विद्रावण कर पाता है (ग) राजा प्रभु का प्रतिनिधि है, अतः वह अवध्य कहा गया है। विवशता में उसे गद्दी से हटाकर, राजा न रहने पर ही दण्ड दिया जाता है। २. **तस्मै** = उस राजा के लिए **पूर्वीः** = अपना पूरण करनेवाली **विशः** = प्रजाएँ **समनमन्त** = सम्यक् आदर करनेवाली हों। ३. जब सब प्रजाएँ राजा

का सम्मान करती हैं तो अयम्=यह उग्रः=तेजस्वी होता है और विहव्यः=विशिष्ट 'कर' को प्राप्त करनेवाला होता है—प्रजाएँ इच्छापूर्वक उसे कर देती हैं। प्रजाओं को चाहिए कि राजा का इस रूप में आदर करें यथा=जिससे यह अन्य राष्ट्रों से भी विहव्यः=निमन्त्रित किया जाने योग्य असत्=हो। अन्य राष्ट्र भी इसे अपना विवाद समाप्त करने के लिए आमन्त्रित करें। ४. प्रभु इस शासक से कहते हैं कि उपयामगृहीतः असि =तूने उपासना द्वारा यम-नियमों का स्वीकार किया है। इन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे=तुझे जितेन्द्रिय बनकर सब कर्मों को करने के लिए भेजा है। एषः ते योनिः=यह शरीर ही तेरा घर है। इन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे=इसमें रहते हुए तुझे जितेन्द्रिय बनना है और निर्माण के सब कार्यों को करना है।

भावार्थ—राजा उचित कर लेनेवाला और प्रजा की रक्षा करनेवाला हो, जिससे यह प्रजा का आदरणीय बने। प्रजा का आदरणीय बनकर यह तेजस्वी हो और सब राष्ट्रों के आमन्त्रण में विहव्य=विशिष्ट आदर से निमन्त्रित किया जाने योग्य हो।

ऋषिः—शासः। देवता—विश्वकर्मेन्द्रः। छन्दः—विराड्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

राजा के लिए चार बातें

उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा गायत्रच्छन्दसं गृह्णामीन्द्राय त्वा त्रिष्टुच्छन्दसं गृह्णामि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जगच्छन्दसं गृह्णाम्यनुष्टुप्तेऽभिगरः॥४७॥

गत मन्त्र की भावना को ही प्रकारान्तरेण दृढ़ करते हुए कहते हैं कि—१. हे राजन्! तुम उपयामगृहीतः असि=उपासना द्वारा अपने जीवन में यम-नियम का स्वीकार करनेवाले हो अग्नये त्वा=तुझे राष्ट्र में अग्रणी बनने के लिए, राष्ट्र को आगे ले-चलने के लिए गृह्णामि=मैं ग्रहण करता हूँ। उस तुझे ग्रहण करता हूँ जो तू गायत्रच्छन्दसम्=प्रभु के स्तवन की कामनावाला है (गायति इति गायत्रः, छन्द=इच्छा) अथवा जो तू गायत्री छन्द के मन्त्रों के अर्थ के विज्ञान से युक्त है। २. इन्द्राय त्वा=शत्रुओं के विद्रावण के लिए तुझे गृह्णामि=स्वीकार करता हूँ जो तू त्रिष्टुप् छन्दसम्=(त्रिष्टुप्=stop) काम, क्रोध व लोभ तीनों को रोकने की कामनावाला है। अथवा त्रिष्टुप् छन्द के मन्त्रों के अर्थ के विज्ञान से युक्त है। ३. विश्वेभ्यः त्वा देवेभ्यः=सब दिव्य गुणों के प्रसार के लिए, राष्ट्र में अच्छाई को फैलाने के लिए तुझे गृह्णामि=ग्रहण करता हूँ। उस तुझे स्वीकार करता हूँ जो तू जगत् छन्दसम्=निरन्तर क्रियाशीलता की इच्छावाला है। अथवा जगती छन्द के मन्त्रों के अर्थ के विज्ञान से युक्त है। ४. अनुष्टुप्=(अनुष्टोभते स्तभ्नाति अज्ञानम्) अज्ञान का नाश ही ते= तेरा अभिगरः=(अभिष्टवः) प्रभु-स्तवन है, अर्थात् प्रजा के अज्ञानान्धकार को दूर करना ही उसकी प्रभु-स्तुति हो जाती है।

भावार्थ—राजा बनने योग्य वह है जो १. राष्ट्र की प्रगति के लिए प्रभु-स्तवन की कामनावाला है। २. शत्रुओं के विद्रावण के लिए काम-क्रोध-लोभ को जीतने की इच्छा करता है। ३. दिव्य गुणों के विस्तार के लिए निरन्तर क्रियाशील होता है। ४. प्रजा के अज्ञानान्धकार को दूर करना ही अपना प्रभु-स्तवन मानता है।

सूचना—१. राजा को अपने निज जीवन में प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाला; काम, क्रोध व लोभ को रोकनेवाला तथा क्रियाशील होना चाहिए। २. उसे राज्य को आगे ले-चलने का प्रयत्न करना है, शत्रुओं से राष्ट्र की रक्षा करनी है तथा राष्ट्र में दिव्य गुणों को फैलाने का प्रयत्न करना है और राष्ट्र से अज्ञान को दूर करना है।

ऋषिः—देवाः। देवता—प्रजापतयः। छन्दः—आसुरीत्रिष्टुप्^१, याजुषीत्रिष्टुप्^२, याजुषीजगती^{३,४}, साम्नीबृहती^५। स्वरः—धैवतः^{१,३}, निषादः^{२,४,५}, मध्यमः^६॥

राजा का सदाचारित्व=सच्चरित्रता

^१त्रेशीनां त्वा पत्मन्नाधूनोमि ^२कुकूननानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि। ^३भन्दनानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि ^४मदिन्तमानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि। ^५मधुन्तमानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि ^६शुक्रं त्वा शुक्रऽआधूनोम्यह्नो रूपे सूर्यस्य रश्मिषु॥४८॥

राजा धनाधिक्य के कारण कहीं चरित्रभ्रष्ट न हो जाए, अतः राजपत्नी कहती है कि—१. **त्रेशीनाम्**=(व्रजन्ति शेरते) जो निष्प्रयोजन केवल दिखावे के लिए इधर-उधर घूमती हैं और खाली समय सोती हैं, उन सुरूप स्त्रियों में **पत्मन्**=गिर जानेवाले **त्वा**=तुझे **आधूनोमि**=सर्वतः कम्पित करती हूँ, अर्थात् उनके समीप जाने से तुझे रोकती हूँ। २. **कुकूननानाम्**=(कु शब्दे कुवन्ति) कोयल की भाँति मधुर स्वर में सङ्गीत के शब्दों को करनेवालियों में **पत्मन्**=गिर जानेवाले **त्वा**=तुझे **आधूनोमि**=सर्वतः कम्पित करती हूँ, अर्थात् उनके फन्दे में पड़ने से बचाती हूँ। ३. **भन्दनानाम्**=(भदि कल्याणे सुखे च) अधिक-से-अधिक आराम के जीवनवाली इन स्त्रियों में **पत्मन्**=गिर जानेवाले **त्वा**=तुझे **आधूनोमि**=कम्पित करके इनसे दूर करती हूँ। ४. **मदिन्तमानाम्**=मादकता को पैदा करनेवाली इन स्त्रियों में **पत्मन्**=गिर जानेवाले **त्वा**=तुझे **आधूनोमि**=कम्पित करके सर्वथा दूर करती हूँ। ५. **मधुन्तमानाम्**=अतिशयेन माधुर्य गुण से युक्त, ऊपर से अत्यन्त मीठे व्यवहारवाली इन स्त्रियों में **पत्मन्**=गिर जानेवाले **त्वा**=तुझे **आधूनोमि**=कम्पित करके दूर करती हूँ। राजा को ही क्या, वस्तुतः सभी पतियों को आपातरम्य स्त्रियों के चंगुल में फँसकर अपनी शक्ति का अपव्यय नहीं करना। ६. इन स्त्रियों में न गिरकर **शुक्रम्**=(शुच) शुद्ध, शुचि व पवित्र जीवनवाले **त्वा**=तुझे (क) **शुक्रे**=(निमित्तसप्तमी) वीर्यरक्षा के निमित्त **आधूनोमि**=मैं तुझे इन सबसे पृथक् करती हूँ। (ख) **अह्नः रूपे**=दिन के रूप के निमित्त तुझे इनसे अलग करती हूँ। जैसे दिन चमकता है उसी प्रकार तेरा जीवन भी स्वस्थ होकर चमकनेवाला होता है। (ग) **सूर्यस्य रश्मिषु**=सूर्य की रश्मियों के निमित्त मैं तुझे इनसे पृथक् करती हूँ। तू व्यसनों से बचकर ज्ञानरश्मियों से प्रकाशमय बन।

भावार्थ—असंयम या व्यभिचार मनुष्य को निर्वीर्य, निस्तेज व मूर्ख बना देता है। संयमी जीवनवाला उत्तम शुक्र (वीर्य) को प्राप्त होता है, उसका चेहरा दिन के प्रकाश के समान चमकता है और वह ज्ञानरश्मियों से सूर्य के समान देदीप्यमान होता है।

ऋषिः—देवाः। देवता—विश्वेदेवाः प्रजापतयः। छन्दः—विराट्प्राजापत्याजगती^१, निचृदार्युष्णिक्^२। स्वरः—निषादः^३, ऋषभः^४॥

शुद्धता व शक्ति की श्रेणी में प्रथम

^१कुकुभस्रूपं वृषभस्य रोचते बृहच्छुक्रः शुक्रस्य पुरोगाः सोमः सोमस्य पुरोगाः। ^२यत्ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि तस्मै त्वा गृह्णामि तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहा॥४९॥

१. गत मन्त्र के अनुसार राजा संयमी जीवनवाला बनता है तो **वृषभस्य**=शक्तिशाली राजा का **कुकुभम् रूपम्**=(कुकुभं इति महन्नाम-नि०) उत्कृष्ट महान् रूप रोचते=चमकता है। वह राजा प्रजा में सचमुच नररूपधारी महादेव प्रतीत होने लगता है। २. **बृहच्छुक्रः**=यह

वृद्धिशील शुद्ध जीवनवाला राजा शुक्रस्य =शुद्धता व शुचिता का पुरोगाः=अग्रेसर होता है। ३. यह सोमः=वीर्य का पुञ्ज सोमस्य=शक्तिशाली पर विनीत लोगों का पुरोगाः=मुखिया होता है, अर्थात् वीर्यरक्षा के द्वारा शक्तिशाली बनता है और विनीत होता है। ४. हे सोम=शक्तिशालिन् पर विनीत राजन्! यत्=क्योंकि ते नाम=तेरी ख्याति, प्रसिद्धि इस रूप में है कि तू अदाभ्यम्=न दबाये जाने योग्य अहिंसनीय है तथा जागृवि=सदा जागनेवाला है, कभी प्रजारक्षणरूप कार्य में प्रमत्त नहीं होता। तस्मै=इसलिए त्वा गृह्णामि=हम तेरा ग्रहण करते हैं। ४. हे सोम=शक्तिशालिन् विनीत राजन्! तस्मै ते सोमाय=उस तुझ सोम के लिए स्वाहा=हम अपना अर्पण करते हैं। शक्तिशाली परन्तु विनीत राजा के लिए प्रजा अपना जीवन देने के लिए उद्यत रहती है। ऐसा ही राजा अन्ततोगत्वा चमकता है। यह 'देव' होता है। ऐसे पति 'देवाः' कहलाते हैं।

भावार्थ—राजा शुद्धता व शक्ति के दृष्टिकोण से सर्वप्रथम बनने का प्रयत्न करता है। ऐसे ही राजा के प्रति प्रजाएँ नतमस्तक होती हैं।

ऋषिः—देवाः। देवता—प्रजापतयः। छन्दः—भुरिगार्षीजगती। स्वरः—निषादः॥

प्रकाश, शक्ति व दिव्यता

उशिक् त्वं देव सोमाग्नेः प्रियं पाथोऽपीहि वशी त्वं देव सोमेन्द्रस्य प्रियं पाथोऽपीह्यस्मत्सखा त्वं देव सोम विश्वेषां देवानां प्रियं पाथोऽपीहि॥५०॥

१. उशिक्=(कामयमानः) प्रजा के हित की कामना करता हुआ त्वम्=तू देव=दिव्य गुणयुक्त तथा ज्ञान के प्रकाशवाला है। हे सोम=शक्ति व शान्ति के पुञ्ज! तू अग्नेः=अग्नि के प्रियं पाथः=प्रिय मार्ग को अपीहि=निश्चय से प्राप्त हो (अपि=निश्चयार्थ)। अग्नि का मार्ग प्रकाश व दोषदहन है। तूने भी प्रकाशमय जीवनवाला तथा दोषों को भस्म करनेवाला बनना है। २. वशी=सब इन्द्रियों को वश में करनेवाला त्वम्=तू देव=दिव्य गुणमय सोम=शान्ति व शक्ति के पुञ्ज! इन्द्रस्य=इन्द्र के प्रियं पाथः =प्रिय मार्ग को अपीहि=निश्चय से प्राप्त हो। इन्द्र का मार्ग असुरों का संहार करना है। तूने भी आसुरवृत्तियों को समाप्त करके सचमुच ही इन्द्र=वशी बनना है। अपने को वश में करके ही तू प्रजाओं को भी वश में कर सकेगा। ३. अस्मत् सखा=हम प्रजाओं का मित्र त्वम्=तू देव सोम=हे प्रकाशमय शान्त व शक्तिसम्पन्न राजन्! विश्वेषां देवानाम्=सब देवों के प्रियं पाथः=प्रिय मार्ग को अपीहि=निश्चय से प्राप्त हो। राजा प्रजा का हित चाहता हुआ स्वयं दिव्य गुणों को अपनाकर प्रजा में उन दिव्य गुणों का प्रसार करे।

भावार्थ—प्रजा का हितेच्छु राजा अग्नि बने, इन्द्र बने, देव बने। प्रजाओं में प्रकाश, शक्ति व दिव्यता का प्रसार करे।

ऋषिः—देवाः। देवता—प्रजापतयो गृहस्थाः। छन्दः—भुरिगार्षीजगती। स्वरः—निषादः॥

रति-धृति-स्वधृति

इह रतिरिह रमध्वमिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहा। उपसृजन्धरुणं मात्रे धरुणो मात्रं धर्यन्। रायस्पोषमस्मासु दीधरत् स्वाहा॥५१॥

गृहस्थाश्रम में प्रवेश करनेवाले पति-पत्नी से कहते हैं कि—१. इह रतिः=यहीं, अपने घर पर ही आनन्द है। इह रमध्वम्=यहाँ ही आनन्द लेने का प्रयत्न करो। आनन्द-प्राप्ति

के लिए क्लब्स आदि में जाना घर के लिए सबसे विघातक है। पति-पत्नी का पारस्परिक प्रेम तो इनके कारण समाप्त होता ही है, सन्तानों का निर्माण भी नहीं हो पाता। २. इह=यहाँ घर पर ही धृति:=धारण व पोषण है, धारण-पोषण के लिए प्रतिदिन के प्रवास की आवश्यकता नहीं ३. इह=इस गृहस्थ में ही स्व-धृति:=आत्मा का भी धारण हो जाता है। आत्मा-परमात्मा को ढूँढने के लिए तीर्थों व मन्दिरों में भटकते रहने की आवश्यकता नहीं। एवं, न आनन्द प्राप्ति के लिए, न आजीविका के लिए और न ही आत्मदर्शन के लिए इधर-उधर जाने की आवश्यकता है। घर पर रहते हुए ही हम ऐहिक व आमुष्मिक कल्याण प्राप्त कर सकते हैं। स्वाहा=यहाँ घर में ही हम 'स्व' का 'हा' करनेवाले बनें, कुछ स्वार्थत्याग का पाठ पढ़ें और घर को स्वर्ग बनाने का प्रयत्न करें।

४. मात्रे=माता के लिए धरुण:=धारण करनेवाले-सब प्रकार से माता-पिता का धारण-पोषण करने में समर्थ पुत्र को उपसृजन्=प्राप्त कराता हुआ पुरुष 'पिता' हो। धरुण:= धारण करनेवाला पुत्र मातरं धयन्=माता का दूध पीनेवाला हो। इस दूध से वह केवल शारीरिक पोषण को ही नहीं प्राप्त होता, अपितु सब उत्तम गुणों को भी अपने अन्दर ग्रहण करता है और धारणात्मक वृत्तिवाला होता है-तोड़-फोड़ करने की ओर इसका झुकाव नहीं होता। ५. यह सन्तान बड़ा होकर अस्मासु=हममें रायस्योषम्=धन के पोषण को दीधरत्=धारण करे। बड़ा होकर कमानेवाला बने, माता-पिता को भूल न जाए। स्वाहा=इस पितृयज्ञ को नियम से करनेवाला यह स्वार्थ का त्याग करे।

भावार्थ-घर में ही आनन्द, ऐश्वर्य व आत्मदर्शन है। इधर-उधर भटकने का क्या लाभ? सन्तान को दूध पिलाने के साथ ही माता उसे धारणात्मक वृत्तिवाला बनाने का प्रयत्न करे।

ऋषिः-देवाः। देवता-प्रजापतिः। छन्दः-निचृदार्षीबृहती। स्वरः-मध्यमः॥

प्रजा द्वारा अमृतत्व

सत्रस्यऽऋद्धिर्स्थगन्म ज्योतिर्मृताऽअभूम।

दिवे पृथिव्याऽअध्यारुहामाविदाम देवान्स्वर्ज्योतिः॥५२॥

पिछले मन्त्र के अनुसार घर में 'रति, धृति व स्वधृति' को समझनेवाले पति-पत्नी 'धरुण' पुत्र को प्राप्त करके कहते हैं कि-१. हे धरुण! तू ही सत्रस्य=हमारे इस गृहस्थ-यज्ञ की ऋद्धिः असि=समृद्धि व सफलता है। तुझे प्राप्त करके हमारा यह यज्ञ पूर्ण होता है। २. ज्योतिः अगन्म=हमने आज प्रकाश प्राप्त किया है। हमें अब अपने आगे अन्धकार प्रतीत नहीं होता। अमृताः अभूम=अब हम तुम्हारे द्वारा अमर हो गये हैं- 'प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम'। ३. अब हम गृहस्थ को समाप्त करके पृथिव्याः=इन पार्थिव भोगों से दिवे अध्यारुहाम=ऊपर उठकर द्युलोक=प्रकाशमय लोक में पहुँचने का प्रयत्न करें। 'स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्', हम सदा स्वाध्याय में तत्पर रहकर अपने ज्ञान को बढ़ानेवाले बनें। देवान् अविदाम=दिव्य गुणों को प्राप्त करें अथवा विद्वानों के समीप पहुँचें और अपने ज्ञान को बढ़ाकर स्वर्ज्योतिः=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति परमात्मा को प्राप्त करें।

भावार्थ-गृहस्थ की सफलता इसी बात में है कि हम धारणात्मक सन्तान को प्राप्त करें। उसके बाद स्वाध्याय आदि से अपने ज्ञान को बढ़ाने में लगे रहें और विद्वानों के सम्पर्क में आते हुए हम स्वयं देदीप्यमान ज्योति प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—देवाः। देवता—गृहपतयः। छन्दः—आर्ष्यनुष्टुप्^१, आसुर्युष्णिक्^२, प्राजापत्याबृहती^३,
विराट्प्राजापत्यापङ्क्तिः^४। स्वरः—गान्धारः^१, ऋषभः^२, मध्यमः^३, पञ्चमः^४॥

इन्द्रापर्वता

१युवं तमिन्द्रापर्वता पुरोयुधा यो नः पृतन्यादप तन्तमिद्धं वज्रेण तन्तमिद्धं तम् । २दूरे
चत्तार्यं छन्त्सद् गहनं यदि नक्षत् । ३अस्माकं शत्रून् परि शूर विश्वतो दर्मा दधीष्ट
विश्वतः । ४भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याम सुवीरा वीरैः सुपोषाः पोषैः ॥५३॥

पति-पत्नी को आत्मालोचन की वृत्तिवाला बनकर अपनी सब बुराइयों को दूर करनेवाला बनना चाहिए। पति 'इन्द्र' हो, सब आसुरवृत्तियों का संहार करनेवाला जितेन्द्रिय। पत्नी 'पर्वत' हो (पर्व पूरणे) अपनी सब न्यूनताओं को दूर कर अपने में अच्छाइयों को भरनेवाली। इन पति-पत्नी से कहते हैं कि यः=जो भी बुराई नः=हमपर पृतन्यात्=आक्रमण करती है, हमारे साथ संग्राम करने आती है युवम् इन्द्रापर्वता=तुम दोनों इन्द्र व पर्वत बनकर पुरोयुधा=पहले ही इनसे युद्ध करनेवाले, प्रारम्भ में ही इन्हें समाप्त कर देनेवाले, इन्हें जड़ पकड़ने का अवकाश न देनेवाले तं तम्=उस-उस बुराई को इत्=निश्चय से हतम्=मार दो। वज्रेण=वज्र से, गतिशीलता से (वज्र गतौ) तं तं इत् हतम्=उसे निश्चय से नष्ट कर दो। दूरे चत्तार्यं=(चतुर्गतिकर्मा) दूर गये हुए के लिए भी यह वज्र (गतिशीलता) छन्त्सत्=नष्ट करने की कामना करे। यदि कोई बुराई दूर तक पहुँच गई हो, अर्थात् कुछ बढ़ भी गई हो, तब भी यह क्रियाशीलता उस बुराई को समाप्त करनेवाली हो। यत्=यदि गहनम्=(cave, a hiding place) हृदयरूप गुहा में भी इनक्षत्=व्याप्त हो गई है तो भी यह क्रियाशीलतारूप वज्र उस बुराई को समाप्त करने की कामना करे। २. हे शूर=कामादि शत्रुओं का हिंसन करनेवाले वीर! अस्माकम्=हमारा विश्वतः शत्रून्=सब दृष्टिकोणों से शासन (विनाश) करनेवाले इन कामादि शत्रुओं को विश्वतः दर्मा=सब ओर से विदीर्ण करनेवाला यह तेरा वज्र-तेरी क्रियाशीलता परिदधीष्ट=चारों ओर से विदीर्ण कर दे। ३. इन शत्रुओं के विनाश से हम भूः=स्वस्थ बनें, भुवः=ज्ञानी बनें, स्वः=जितेन्द्रिय व प्रकाशमय हों। प्रजाभिः=सन्तानों से सुप्रजाः=उत्तम प्रजाओंवाले स्याम=हों, वीरैः=वीरों से सुवीराः=उत्तम वीरोंवाले हों तथा पोषैः=धनादि के दृष्टिकोण से सुपोषः=उत्तम धनों का पोषण करनेवाले हों।

वस्तुतः 'देवाः'=दिव्य गुणोंवाले वे ही होते हैं जो शत्रुओं का नाश करके शरीर के दृष्टिकोण से भूः=स्वस्थ बनते हैं, बौद्धिक दृष्टिकोण से भुवः=ज्ञानी बनते हैं तथा मानस दृष्टिकोण से जितेन्द्रिय (स्वः) बनते हैं। इनकी सन्तान भी उत्तम होती है, ये वीर होते हैं और न्याय्य धनों का अर्जन करते हैं।

भावार्थ—हम क्रियाशीलता से कामादि शत्रुओं को समाप्त करनेवाले हों। इन शत्रुओं को हम प्रारम्भावस्था में ही नष्ट करने का प्रयत्न करें। हम सुप्रजा, सुवीर व सुपोष हों।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—परमेष्ठी प्रजापतिः। छन्दः—निचृद्ब्राह्म्युष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

परमेष्ठी-पूषा

परमेष्ठ्युभिधीतः प्रजापतिर्वाचि व्याहृतायामन्धोऽअच्छेतः।

सविता सन्यां विश्वकर्मा दीक्षायां पूषा सोमक्रयण्याम् ॥५४॥

गत मन्त्र के ऋषि 'देवाः' थे, वे सब देवों को अपने अनुकूल बनाकर उत्तम

निवासवाले बनते हैं और इसी कारण 'वसिष्ठ' कहलाते हैं। वसुओं में सर्वाधिक वसु। ये अपनी इन्द्रियों, मन व बुद्धि पर पूर्ण प्रभुत्व के कारण 'वशिष्ठ' भी कहलाते हैं—सर्वोत्तम वशी। १. **परमेष्ठी**=ये अपने जीवन को उत्तम बनाते हुए परम स्थान पर पहुँचने का प्रयत्न करते हैं। २. ये **अभिधीतः**=(अभि=अन्दर-बाहर दोनों ओर, धीतम्=ध्यान) अन्दर-बाहर दोनों ओर, क्या सृष्टि में और क्या शरीर में, ये उस प्रभु की महिमा का ही ध्यान करते हैं। शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग की रचना में, हिमाच्छदित पर्वतों, समुद्रों व पृथिवी के वनों व रेगिस्तानों—सभी में प्रभु की महिमा का दर्शन करते हैं। इस प्रकार अन्दर-बाहर प्रभु-महिमा को देखते हुए ये व्यक्ति पापों से ऊपर उठकर 'परमे-ष्ठी' बन जाते हैं। ३. **वाचि व्याहृत्यायाम्**=वेदवाणी का अध्ययन करने पर **प्रजापतिः**=ये प्रजाओं के रक्षक बनते हैं। घरों में उत्तम सन्तानों का निर्माण करते हैं तो राष्ट्र के अधिकारी बनकर सारी प्रजा को अच्छा बनाने का प्रयत्न करते हैं। ४. **अच्छ इतः**=उस प्रभु की ओर गया हुआ व्यक्ति **अन्धः**=(अदृक्) संसार की वस्तुओं को फिर नहीं देखता, इन वस्तुओं के प्रति उसकी 'रति' नष्ट हो जाती है, ब्रह्ममार्ग पर चलनेवाले के लिए सांसारिक आनन्द तुच्छ हो जाते हैं। ५. **सन्याम्**=(संभक्तौ) सम्यक् यज्ञ द्वारा बाँटकर खाने से **सविता**=(षु=ऐश्वर्य) मनुष्य ऐश्वर्यशाली बनता है। देने से धन बढ़ता ही है—'दक्षिणां दुहते सप्तमातरम् (ऋ०)' देने से धन सप्तगुणित हो जाता है। ६. **दीक्षायाम्**=व्रत ग्रहण करने पर मनुष्य **विश्वकर्मा**=देवशिल्पी—निर्माणात्मक कार्यों को कुशलता से करनेवाला बनता है। व्रती पुरुष की वृत्ति तोड़-फोड़ की न होकर निर्माण की होती है। ७. **सोमक्रयण्याम्**=सोम का क्रयण, अर्थात् 'द्रव्य-विनिमय' अन्य द्रव्य देकर सोम लेने पर **पूषा**=मनुष्य पोषण की देवता बन जाता है, अर्थात् वह सब दृष्टिकोणों से पुष्ट होता है। सब द्रव्यों से वह सोम का विनिमय करने के लिए उद्यत होता है तो यह सोम उसके शरीर, मन व मस्तिष्क सभी को पुष्ट करता है।

भावार्थ—हम मन्त्रवर्णित ध्यान आदि उपायों द्वारा 'परमेष्ठी' बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—इन्द्रादयः। **छन्दः**—आर्षोपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

इन्द्र-नरन्धिष

इन्द्रश्च मरुतश्च क्रयायोपोत्थितोऽसुरः पण्यमानो मित्रः क्रीतो

विष्णुः शिपिविष्टऽऊरावासन्नो विष्णुर्नरन्धिषः॥५५॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति 'सोम-क्रयणी' पर थी। **क्रयाय**=इस सोम के क्रय के लिए **इन्द्रः च**=मनुष्य को जितेन्द्रिय बनना है तथा साथ ही **मरुतः च**=प्राणों की साधना करनी है। जितेन्द्रियता व प्राणसाधना ये दो सोमरक्षा के मौलिक उपाय हैं। २. इस प्रकार जितेन्द्रियता व प्राणसाधना से सोम की ऊर्ध्वगति होती है (उप up) **उत्थितः**=ऊपर उठा हुआ यह सोम **असुरः**=प्राणशक्ति देनेवाला होता है (असून् राति)। शरीर का अङ्ग-प्रत्यङ्ग प्राणशक्ति के सञ्चारवाला हो जाता है। ३. **पण्यमानः**=सब द्रव्यों को देकर खरीदा जाता हुआ यह सोम **मित्रः**=(प्रमीतेः त्रायते) रोगों से बचानेवाला होता है। ४. **क्रीतः**=खरीदा गया यह सोम **विष्णुः**=सारे शरीर में व्याप्त होनेवाला होता है। ५. **शिपिविष्टः**=(शिपिषु प्राणिषु प्रविष्टः) प्राणियों में प्रविष्ट हुआ यह सोम **ऊरौ**=(आच्छादने-द०) सब ओर से रोगादि के आक्रमण से बचाने की क्रिया में **आसन्नः**=निकटतम उपाय होता है। ६. **विष्णुः**=वस्तुतः शरीर में ही प्रविष्ट हुआ

और सम्पूर्ण रुधिर में व्याप्त हुआ यह सोम न-रन्धिषः=अ-हन्ता, न नष्ट करनेवाला होता है अथवा मनुष्यों को धारण करनेवाले (नरन्धि) इस संसार को ज्ञान द्वारा समाप्त करनेवाला (स्यति) होता है, अर्थात् यह सुरक्षित हुआ सोम उस सोम (परमात्मा) को प्राप्त कराके मनुष्य को मुक्त कर देता है।

भावार्थ—हम सोमरक्षा द्वारा अपने को नाश से बचाएँ और इस संसार के आवागमन से ऊपर उठकर मुक्त होने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—विश्वेदेवा गृहस्थाः। छन्दः—आर्षीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

प्रोह्यमाण-उपावहियमाण

प्रोह्यमाणः सोमऽआगतो वरुणऽआसन्द्यामासन्नो ऽग्निराग्नीध्रऽइन्द्रो

हविर्दाने ऽथर्वोपावहियमाणः॥५६॥

१. पिछले मन्त्र के अन्तिम वाक्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि प्रोह्यमाणः=(वह to carry) प्रकर्षण उह्यमान होता हुआ सोमः=सोम आगतः=आता है, उद्दिष्ट स्थल पर पहुँच जाता है, यह लक्ष्य-स्थान से दूर नहीं होता। २. यह लक्ष्य-स्थान परमात्म-प्राप्ति ही तो है। यहाँ पहुँचा हुआ यह व्यक्ति मानो आसन्द्याम्=आरामकुर्सी पर आसन्नः=बैठा हुआ, परमात्मरूपी माता की गोद में बैठा हुआ वरुणः=आच्छादित (वृ आच्छादने) होता है, जैसे एक बच्चा माता की गोद में बैठा हुआ अत्यन्त सुरक्षित होता है, इसी प्रकार यह वसिष्ठ भी प्रभु की गोद में बैठा हुआ किसी भी प्रकार की वासनाओं के आक्रमण से आक्रान्त नहीं होता। ३. परन्तु क्या यह अकर्मण्य होता है? नहीं। आग्नीध्रे=(अग्निमिन्धे इति अग्नीत् तस्य भावः आग्नीध्रम्) अग्निसमिन्धनादि कार्यों में, अग्निहोत्रादि में यह अग्निः=प्रगतिशील होता है। यज्ञादि कार्यों में उत्साहवाला होता हुआ अपने जीवन को उन्नत करनेवाला होता है। ४. हविर्दाने=(हु=दान) दान के धारण में, अर्थात् दानादि करने पर इन्द्रः=परमैश्वर्यवाला होता है। दानादि से अपने ऐश्वर्य को बढ़ानेवाला होता है। ५. उप अवाहियमाणः=विषयों से इन्द्रियों को (अव=away) दूर करता हुआ और (उप) प्रभु की उपासना करता हुआ यह अथर्वा=डाँवाडोल नहीं होता, स्थितप्रज्ञ बनता है।

भावार्थ—विषयव्यावृत्त होकर स्थितप्रज्ञ बनना हमारे जीवन का ध्येय हो।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—निचृद्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

अंशुषु न्युप्तः सक्तुश्रीः

विश्वे देवाऽअंशुषु न्युप्तो विष्णुराप्रीतपाऽआप्यायमानो यमः सूयमानो विष्णुः

सम्भ्रियमाणो वायुः पूयमानः शुक्रः पूतः। शुक्रः क्षीर्श्रीर्मन्थी सक्तुश्रीः॥५७॥

१. गत मन्त्र का स्थितप्रज्ञ अंशुषु=ज्ञान की किरणों में न्युप्तः=बोया हुआ, अर्थात् (नित्यं स्थापितः) नित्य स्थापित किया हुआ विश्वेदेवाः=सब दिव्य गुणों का पुञ्ज बनता है। ज्ञानग्नि में सब बुराइयाँ दग्ध हो जाती हैं, अतः उसका जीवन उत्तमोत्तम बन जाता है। २. विष्णुः=उदार-व्यापक मनोवृत्तिवाला (विष्णु व्याप्तौ) यह आप्रीतपा=सब ओर प्रेम से (प्रीतं यथा स्यात्तथा) सबकी रक्षा करनेवाला आप्यायमानः=समन्तात् वृद्ध होता है, सब दृष्टिकोणों से बढ़ा हुआ होता है। ३. यमः=नियमित जीवनवाला यह सूयमानः=(षु=ऐश्वर्य)

ऐश्वर्य में स्थापित किया जा रहा होता है। ४. **विष्णुः**=व्यापक मनोवृत्तिवाला यह **संभ्रियमाणः**=सम्यक् धारित-पोषित किया जा रहा होता है, औरों के धारण से वस्तुतः इसका अपना ही धारण होता है। यह औरों का धारण करता है, सब इसका धारण करते हैं। ५. **वायुः**=निरन्तर गतिवाला यह **पूयमानः**=पवित्र किया जा रहा होता है, कर्म मनुष्य के जीवन को शुद्ध करनेवाले हैं। ६. **शुक्रः**=(शुक् गतौ) शीघ्रता से कार्यों को करनेवाला (आशुकर्ता-द०) यह **पूतः**=पूर्ण पवित्र हो जाता है, पूर्ण पवित्र ही क्या? ७. **शुक्रः**=(शुक् दीप्तौ) पवित्र व दीप्त हुआ-हुआ यह **क्षीरश्रीः**=(क्षीरस्य श्रीरिव श्रीर्यस्य) दूध के समान उज्ज्वल कान्तिवाला होता है, इसका जीवन शुद्ध दूध के समान उज्ज्वल बन जाता है। ८. **मन्थी**=ज्ञान का खूब आलोडन व अवगाहन करनेवाला यह **सत्तुश्रीः**=(सत्तुः=सर्वत्र समवेतः प्रभुः) उस सर्वव्यापक प्रभु की कान्ति के समान कान्तिवाला होता है। उपनिषद् के शब्दों में 'ब्रह्म इव'=प्रभु-जैसा बन जाता है।

भावार्थ—हम अपने जीवन में सदा ज्ञान व सत्त्वगुण में स्थापित हुए-हुए उस प्रभु की कान्ति के समान कान्तिवाले बनें।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—निचृदार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

विश्वेदेवाः पितरः

**विश्वे देवाश्चमसेषून्नीतोऽसुहोमायोद्यतो रुद्रो हूयमानो वातोऽभ्यावृतो
नृचक्षाः प्रतिख्यातो भक्षो भक्ष्यमाणः पितरो नाराशंसाः॥५८॥**

१. **चमसेषु**='सत्य, यश व श्री' (truth, glory and prosperity) के आचमनों के होने पर **उन्नीतः**=यह ऊपर ले-जाया गया होता है, उन्नति के शिखर पर पहुँचता है। वस्तुतः यह **विश्वेदेवाः**=सब दिव्य गुणोंवाला हो जाता है। इस मन्त्रभाग का अर्थ इस प्रकार भी होता है कि **चमसेषु**=अन्नमयादि कोशों में (तिर्यग् बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः) **उन्नीतः**=ऊर्ध्वगति को प्राप्त कराया गया सोम **विश्वेदेवाः**=सब दिव्य गुणों का कारण बनता है। २. **होमाय उद्यतः**=सदा अग्निहोत्रादि यज्ञों में लगा हुआ यह **असुः**=(असु क्षेपणे) सब रोगों को अपने से परे फेंकनेवाला बनता है। ३. **हूयमानः**=लोगों से पुकारा जाता हुआ यह **रुद्रः**=(रुत्+र) उपदेश देनेवाला, ज्ञान देनेवाला होता है। ४. **वातः**=निरन्तर कार्यों में लगा हुआ यह **अभ्यावृतः**=सब ओर से विषयों से व्यावृत्त होता है। ५. **प्रतिख्यातः**=लोगों में प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ-हुआ यह **नृचक्षाः**=(looks after men) लोगों का रक्षण करनेवाला होता है, अर्थात् लोगों में इसकी ऐसी प्रसिद्धि हो जाती है कि यह सबका ध्यान करता है। ६. **भक्ष्यमाणः भक्षः**=खानेवाले लोगों के खा लेने पर ही यह खानेवाला होता है, अर्थात् यह कभी अकेला नहीं खाता। इसकी आय में 'आध्र (आधार देने योग्य गरीब लोग), मन्यमानः, तुरः (आदरणीय अज्ञानान्धकार को दूर करनेवाला पुरुष) और राजा-इन सभी को भाग मिलता है। यह गरीबों की मदद करता है, मान्य विद्वानों की सेवा करता है, राजा को कर देता है और बचे हुए को खाता है। ७. **नाराशंसाः**=मनुष्यों के प्रति ज्ञान का शंसन करनेवाला यह सचमुच **पितरः**=लोगों का रक्षक होता है। सच्चे पिता ऐसे ही व्यक्ति होते हैं।

भावार्थ—लोकहित में प्रवृत्त हुए-हुए ज्ञान के देनेवाले लोग ही सच्चे पिता होते हैं।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—निचृदार्षीजगती १, विराडार्षीगायत्री २। स्वरः—निषादः ३, षड्जः ४॥

स्व-स्वामित्व

१॥ सन्नः सिन्धुरवभृथायोद्यतः समुद्रोऽभ्यवह्रियमाणः सलिलः प्रप्लुतो ययोरोजसा
स्कभिता रजांसि वीर्येभिर्वीरतमा शविष्ठा। या पत्येतेऽप्रतीता
सहोभिर्विष्णूऽअगन्वरुणा पूर्वहूतौ॥५९॥

१. सिन्धुः=(स्यन्दते) अपने कार्यमार्ग पर नदी-जल की भाँति निरन्तर चलनेवाला यह सन्नः=एक दिन प्रभु की गोद में बैठा हुआ होता है, निरन्तर आगे बढ़ता हुआ प्रभु को प्राप्त कर लेता है। २. प्रभु को प्राप्त करने पर समुद्रः=(स-मुद्र) अत्यन्त आनन्द से युक्त यह अवभृथाय उद्यतः=यज्ञान्त स्नान के लिए उद्यत होता है। आज इसके जीवन का उद्देश्य पूर्ण होता है, उसी पूर्ति के उपलक्ष्य में यह यज्ञान्त स्नान होता है। ३. आज इसके जीवन में सलिलः प्रप्लुतः=प्रभु-प्राप्ति के आनन्द का अथाह जल ही उमड़ पड़ा है और यह अभ्यवह्रियमाणः=इन सांसारिक भोगों व स्वर्गादि के सुखों से पराङ्मुख हो गया है। प्रभु-प्राप्ति के आनन्द के सामने ये सब आनन्द अत्यन्त तुच्छ हैं। ४. इस प्रकार जिन पति-पत्नियों के जीवन में वे ३४ जीवन-सूत्र मिलते हैं, वे ऐसे होते हैं कि ययोः=जिनके ओजसा=ओज से, शक्ति से, रजांसि=ये लोक स्कभिता=थामे गये हैं। वस्तुतः संसार ऐसे सुन्दर जीवनवाले पुरुषों के सहारे ही स्थित है। ये पति-पत्नी वीर्येभिः=शक्तियों से वीरतमा=अतिशयेन शक्तिशाली होते हैं। शविष्ठा=अत्यन्त बलवान् व क्रियाशील होते हैं (शवस्=बल, शव् गतौ)। ५. या पत्येते=ये वे पति-पत्नी हैं जो अपना स्वामित्व करते हैं, जितेन्द्रिय होते हैं। सहोभिः=अपने बलों से ये अप्रतीता=(अ प्रति इत) अद्वितीय matchless होते हैं। विष्णू=व्यापक मनोवृत्तिवाले होते हैं वरुणा=श्रेष्ठ होते हैं, क्योंकि पूर्वहूतौ=(हूति=आकारण=आह्वान) प्रभु की प्रार्थना में ये सर्वप्रथम अगन्=प्राप्त होते हैं। इनके जीवन में प्रतिदिन का पहला कार्य प्रभु का आराधन होता है।

भावार्थ—हमारा दैनिक जीवन प्रभु-प्रार्थना से ही प्रारम्भ हो।

सूचना—५३ मन्त्र के 'युवं तमिन्द्रापर्वता' से पति-पत्नी का वर्णन ५९ मन्त्र के 'ययोरोजसा' तक चल रहा है। बीच के मन्त्र जीवन में लाने योग्य ३४ तन्तुओं का उल्लेख करते हैं। परमात्मा-जैसा तो बनना ही है। शेष ३३ देवों को भी हमें जीवन में धारण करना है। ये ३३ दिव्य गुण ही ५४ से ५९ मन्त्र के प्रारम्भ तक वर्णित हुए हैं।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

प्रातः प्रार्थना

देवान् दिवमगन्यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु मनुष्यानन्तरिक्षमगन्यज्ञस्ततो मा
द्रविणमष्टु पितृन् पृथिवीमगन्यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु यं कं च
लोकमगन्यज्ञस्ततो मे भद्रमभूत्॥६०॥

पिछले मन्त्र की समाप्ति 'अगन्.....पूर्वहूतौ' इन शब्दों पर हुई थी कि ये पति-पत्नी प्रातः प्रभु-प्रार्थना में उपस्थित होते हैं। उस प्रार्थना का स्वरूप प्रस्तुत मन्त्र में निर्दिष्ट हुआ है कि—१. यज्ञः=यज्ञ देवान्=देवों को-दिव्यवृत्ति पुरुषों को दिवम्=द्युलोक को, प्रकाश को, अगन्=प्राप्त कराता है मा=मुझे ततः=उससे द्रविणम्=द्रविण-ज्ञानरूप धन अष्टु=प्राप्त

हो। यज्ञ से देवों का जीवन अधिक प्रकाशमय होता है, मुझे भी ज्ञानरूप धन प्राप्त हो और मेरा जीवन भी प्रकाशमय हो। २. यज्ञः=यज्ञ मनुष्यान्=(मत्वा कर्माणि सीव्यति-नि०) विचारपूर्वक कार्य करनेवालों को अन्तरिक्षम्=अन्तरिक्षलोक को अगन्=प्राप्त कराता है। ततः=उस यज्ञ से मा=मुझे द्रविणम्=मध्यमार्ग में चलनारूप धन अष्टु=प्राप्त हो। मैं सदा मध्यमार्ग (अन्तरा+क्षि बीच में रहना) में चलनेवाला बनूँ। ३. यज्ञः=यज्ञ पितृन्=रक्षकों (guardians) को पृथिवीम्=पृथिवी को (प्रथ विस्तारे) शक्तियों के विस्तार को अगन्=प्राप्त कराता है ततः=उस यज्ञ से मा=मुझे भी द्रविणम्=शक्तियों का विस्ताररूप धन अष्टु=प्राप्त हो। ४. यज्ञः=यज्ञ यं कं च लोकम्=जिस किसी भी लोक को अगन्=प्राप्त कराता है ततः=उससे मे=मेरा भद्रम्=कल्याण और सुख अभूत्=हो। ५. इस यज्ञ से ही देवों का जीवन प्रकाशमय होता है। मनुष्य सदा मध्यमार्ग से चलने की वृत्तिवाले होते हैं और पितर=(रक्षण की वृत्तिवाले लोग) शक्तियों के विस्तार को प्राप्त करते हैं। ये तीनों ही बातें हमारे ऐहिक व आमुष्मिक जीवन को क्रमशः सुखी व कल्याणमय बनाती हैं।

भावार्थ—हम यज्ञों को अपनाएँ जिससे हम प्रकाश को प्राप्त हों। हमारा जीवन मध्यमार्ग से चलनेवाला हो तथा हम अपनी सब शक्तियों का विस्तार करनेवाले हों।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—ब्राह्म्युष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

चौतीस सूत्र

चतुस्त्रिंशत्तन्तवो ये वितन्त्रिरे यऽइमं यज्ञं स्वधया ददन्ते।

तेषां छिन्नः सम्वेतद्दधामि स्वाहा घर्मोऽअप्येतु देवान्॥६१॥

१. मन्त्र ५३ से ५९ के पूर्वार्ध तक जीवन के ३४ सूत्रों का वर्णन हुआ है। ये ३४ सूत्र ही जीवन का उत्तमता से धारण करते हैं। ये=जो चतुस्त्रिंशत्=३४ तन्तवः=सूत्र वितन्त्रिरे=विशेषरूप से फैले हुए हैं ये=जो सूत्र इमं यज्ञम्=इस सृष्टि-यज्ञ को और तदन्तर्गत हमारे जीवन-यज्ञ को स्वधया=अपनी धारणशक्ति से ददन्ते=धारण करते हैं (दद दानधारणयोः), तेषाम्=उन सूत्रों का छिन्नम्=जो भी कुछ अंश टूटता है उ=निश्चय से एतत्=इसको संदधामि=ठीक-ठीक कर देता हूँ, अर्थात् मैं यथासम्भव जीवन के नियमों का पालन करता हूँ, उनमें होनेवाली त्रुटियों को दूर करता हूँ। २. इन त्रुटियों के दूरीकरण के लिए स्वाहा=मैं अपने (स्व+हा) स्वार्थ का त्याग करता हूँ। स्वार्थ ही त्रुटियों का कारण हुआ करता है। स्वार्थ के दूर करने से त्रुटियाँ दूर हो जाती हैं। ३. त्रुटियों के दूर होने पर मनुष्य का जीवन दिव्य बनता है। इन देवान्=देवों को—दिव्य गुणयुक्त जीवनवालों को घर्मः=(Heat, Warmth, Sunshine) शक्ति की उष्णता व ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है। ४. संक्षेप में संसार के धारण करनेवाले ३४ सूत्र हैं। ये ही वैयक्तिक जीवन के नियम हैं। इनके पालन में त्रुटि न आने देना ही हमारा कर्तव्य है। जब इनका पालन ठीक प्रकार से होता है तब जीवन में शक्ति की उष्णता व ज्ञान का प्रकाश दोनों उपस्थित होते हैं।

भावार्थ—हम अपने जीवनो को नियमबद्ध करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—यज्ञः। छन्दः—स्वराडापीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

यज्ञ का दोह

यज्ञस्य दोहो विततः पुरुत्रा सोऽअष्टधा दिवमन्वाततान।

स यज्ञं धुक्ष्व महि मे प्रजायां रायस्पोषं विश्वमायुरशीय स्वाहा॥६२॥

१. यज्ञस्य=यज्ञ का दोहः=प्रपूरण पुरुत्रा=बहुत प्रकार से व बहुत स्थानों में विततः= फैला हुआ है। मन्त्र संख्या ६० में कहा था कि वह द्युलोक में प्रकाश के रूप से, अन्तरिक्षलोक में विचारपूर्वक कर्म करने की वृत्ति के रूप से तथा पृथिवीलोक में शक्तियों के विस्तार के रूप से परिणत होता है। यज्ञ मस्तिष्क को ज्ञान से भरता है, हृदय को मध्यमार्ग में चलने की प्रवृत्ति से युक्त करता है और शरीर में सब अङ्गों की शक्ति का विस्तार करता है। २. सः=वह यज्ञ अष्टधा=आठ प्रकार से दिवम् अनु आततान=इस आकाश में विस्तृत हुआ है, अर्थात् यज्ञशील के जीवन में 'दया सर्वभूतेषु, क्षांतिः, अनसूया, शौचं, अनायासः, मङ्गलम्, अकार्पण्यम्, अस्पृहा' इन आठ गुणों का विस्तार होता है। यज्ञशील (क) सब प्राणियों पर दया करता है, (ख) सहनशील होता है, (ग) दूसरों के गुणों में दोषदर्शन नहीं करता, (घ) पवित्रता को अपनाता है, (ङ) सब कार्यों को सहज स्वभाव से शान्तिपूर्वक करता है, (च) मङ्गल कार्यों में प्रवृत्त होता है, (छ) उदारता को अपनाता है, (ज) किसी भी वस्तु के लिए अत्यन्त आसक्तिवाला नहीं होता। ३. यज्ञ= हे यज्ञ! सः वह तू मे=मुझमें महि=महिमा को अथवा (मह पूजायाम्) पूजा की वृत्ति को धुक्ष्व=पूरित कर। यज्ञ करता हुआ जहाँ मैं महिमा को प्राप्त होऊँ वहाँ मेरी वृत्ति प्रभु-पूजा की बने। ४. प्रजायां रायस्पोषम्=प्रजा के होने पर मैं धन के पोषण को प्राप्त करूँ। यज्ञ की महिमा से मेरी सन्तान उत्तम हो और मैं उनके पोषण के लिए उचित धन प्राप्त करनेवाला होऊँ। ५. विश्वम्=पूर्ण आयुः=जीवन को अशीयं=प्राप्त करूँ। ६. स्वाहा= इस सबके लिए मेरा जीवन स्वार्थ के त्यागवाला हो, यज्ञ की वृत्तिवाला हो।

भावार्थ—यज्ञ से मेरा जीवन दया आदि आठ गुणों से युक्त हो, मुझमें पूजा की वृत्ति बढ़े, सन्तान व उनके पोषण के लिए मैं धन प्राप्त करूँ, पूर्ण आयुवाला होऊँ। वस्तुतः वसिष्ठ का जीवन ऐसा होना ही चाहिए।

ऋषिः—कश्यपः। देवता—यज्ञः। छन्दः—स्वराडार्षीगायत्री। स्वरः—षड्जः॥

पवित्रता व शक्ति

आपवस्व हिरण्यवदश्ववत्सोम वीरवत्। वाजं गोमन्तुमाभर स्वाहा॥६३॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि कश्यप=ज्ञानी (पश्यक) है। यह प्रभु का सोम नाम से स्मरण करता है। यह सोम शरीर में वीर्य का भी प्रतिपादक है। यज्ञियवृत्ति से शरीर में इस सोम की रक्षा होती है। इस सुरक्षित सोम से हम अन्ततः उस सोम—' प्रभु' को प्राप्त करनेवाले बनते हैं। इस सोम से यह कश्यप-पश्यक-प्रभुद्रष्टा प्रार्थना करता है कि—१. सोम=हे शान्त, ज्ञानमय प्रभो! आ पवस्व=आप हमारे जीवन को सर्वथा पवित्र कर दो। २. और वाजम्=उस शक्ति को आभर=हममें सर्वथा भर दो जो (क) हिरण्यवत्='हिरण्यं वै ज्योतिः'=ज्ञान से युक्त है। हमारी शक्ति के साथ ज्योति का समन्वय हो। (ख) अश्ववत्=(अश्नुते कर्मसु) जो शक्ति कर्मों में व्याप्त होनेवाली है। हम क्रियाशील हों। (ग) वीरवत्=हमारी वह शक्ति वीरतावाली हो (वि+ईर) कामादि शत्रुओं को विशेषरूप से दूर भगानेवाली हो। (घ) गोमन्तम्=(गावः इन्द्रियाणि) हमारी वह शक्ति उत्तम इन्द्रियोंवाली हो। ३. स्वाहा=इस शक्ति की प्राप्ति के लिए हम स्वार्थत्याग करते हैं।

भावार्थ—हमारा जीवन पवित्र हो। हमें वह शक्ति प्राप्त हो जो ज्योति, क्रिया, वीरता व प्रशस्तेन्द्रियता से युक्त है।

॥ इत्यष्टमोऽध्यायः सम्पूर्णः॥